: लेखक :

स्वामी सत्यभक्त

:: प्रकाशक ::

सत्याश्रम, वर्धा (सी. पी.)

[११९४७ इतिहास संवत्]

प्रास्ताविक

इन कहानियों को लिखे लम्बा समय गुजर गया। इसके बाद भी अनेक कहानियाँ लिखी हैं और इनसे अच्छी लिखी हैं फिर भी पहिले पहल इन कहानियों को प्रकाशित कराने का कारण यह है कि सुहृदर बाबू छोटेलालजी कलकत्ता की इच्छा थी कि मेरी जैन कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया जाय। इसके लिये उनने आवश्यक खर्च भी दिया। पर कागज की दुर्लभता के कारण कई वर्ष में उनके अनुरोध का पालन हो सका है, और वह भी हाथ के बने रद्दी कागज में।

हाँ! तो ये जैन कहानियाँ हैं। इनसे जीवन के बारे में जैनधर्म का दृष्टिकोण समझा जा सकता है। पर इनमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं है, मुझ सरीखा सर्वधर्म-समभावी व्यक्ति साम्प्रदायिक कट्टरता वाली कहानियाँ लिख नहीं सकता, अगर पन्द्रह बीस वर्ष पहिले लिखी भी हों तो उन्हें आज प्रकाशित नहीं करा सकता, इस तरह इन कहानियों का रूप सर्वोपयोगी ही है। नाम बदल दिया जाय तो ये अन्य धर्मों की या मानव-धर्म की कहानियाँ कही जा सकती हैं।

इन कहानियों के पात्र जैन ग्रन्थों से लिये गये हैं, उनका चित्रण भी उनके अनुरूप ही किया गया है, उनके जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं को भी नहीं बदला गया है फिर भी काफी स्वतन्त्रता से काम लिया गया है। जैसे चतुर-महावीर कहानी बिलकुल कल्पित है फिर भी है उनके जीवन के अनुरूप। दूसरी कहानियों में इतनी तो नहीं फिर भी पर्याप्त-मात्रा में अपनी बात है।

जैनियों के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों से पात्र लिये गये हैं और जो पात्र दोनों के लिये मान्य हैं उनका चित्रण उसी ढंग से किया गया है जो मुझे सत्य के निकट मालूम हुआ है।

सोचा था कि दस पन्द्रह वर्ष बाद ये कहानियाँ पुस्तकाकार छप रही हैं पहिले ये जैन-जगत और जैन-प्रकाश में प्रकाशित हुई थीं, पुस्तकाकार छपाते समय इन्हें कुछ सुधार लिया जाय पर न सुधार पाया। कुछ तो समय न मिला और कुछ रुचि ही न हुई। इसलिये ये करीब करीब ज्यों की त्यों प्रकाशित हो रही हैं।

रही कला की बात, सो मैं अपने को सत्य-प्रचारक तो मानता हूँ पर कलाकार नहीं। 'कला कला के लिये है' यह सिद्धान्त भी मेरा नहीं है। मैं तो मानता हूँ कि कला सत्य के लिये है नीति और सदाचार के लिये है। इन कहानियों का ध्येय भी सत्य है, समाज-सुधार है, नीति है, सदाचार है। सत्य की पूजा में हाथ बटाने के लिये कलादेवी आ धमकी हों तो उन्हें धन्यवाद। मैं उन्हें निमन्त्रण देने नहीं गया।

सत्याश्रम, वर्धा — सत्यभक्त

महात्मा महावीर
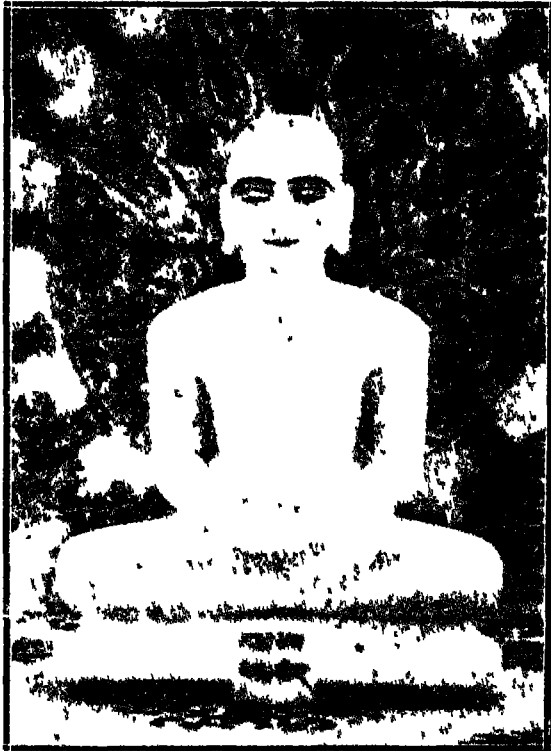
(सत्याश्रम वर्धा के धर्मालय में विराजमान मूर्ति)

चतुर-महावीर

[१]

"मिथ्यात्वी ! नास्तिक !"

"मूर्ख ! पशु !"

"दंभी ! पाखण्डी !"

"वञ्चक ! धोखेबाज़ !"

यह वह संवाद है जो राजगृह नगर के चौराहों पर पढ़े-लिखे मूर्खों में होता था। धर्म के और सत्य के नाम पर अहंकार और कदाग्रह की पूजा हो रही थी। सभ्यता को विदा दे दी गई थी; असभ्यता विद्वत्ता के आसन पर बैठी थी। उस समय राजगृह के चौराहों पर ऐसे ही दृश्य दिखाई देते थे। पंडितों के दल थे जो आपस में अनेक तरह से भिड़ पड़ते थे। बोलाचाली के साथ हाथापाई, मुक्का-मुक्की भी हो जाती थी। ये पंडित बड़ी सरगर्मी से धर्म की रक्षा के लिये प्राण देने और प्राण लेने को तैयार रहते थे। धर्म का तो पता न था, परन्तु धर्म-रक्षा बराबर की जा रही थी।

पंडितों की इस लड़ाई से महाराज श्रेणिक का चित्त बहुत खिन्न हो रहा था। परन्तु ब्राह्मणों की सत्ता क्षत्रियों की सत्ता से कुछ कम न थी। वे अगर अपराधी हों तो भी दंड देना कठिन था। उनका अपमान करना सर्प को छेड़ना था।

श्रेणिक ने कहा—कुन्डकरजी! मृगचक्षुजी जो कुछ कह रहे हैं, क्या वह ठीक है? क्या आपने इनकी नाक पर मुक्का मारा था? क्या इनकी नाक से खून बहा था?

कुन्डकरजी ने बिना किसी सङ्कोच के कहा—सत्य है महाराज!

"यदि यह सत्य है तो क्या यह उचित है? विद्वान् लोग तत्त्व-चर्चा करें, निर्णय करें, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है। परन्तु वे इस तरह खून बहायें, यह विद्वत्ता में धब्बा लगाना है। विद्वानों को तो युक्तियों का ही सहारा लेना चाहिये।"

"महाराज! मैंने युक्ति के सिवाय और दूसरी चीज़ से काम नहीं लिया!"

"क्या मुक्का मारना भी युक्ति है?"

"कभी कभी मुक्का भी युक्ति बन जाता है। मैंने कुछ मारने के लिये मुक्का नहीं मारा था; सिर्फ युक्ति की परीक्षा करने के लिये मारा था।"

"क्या मुक्के से भी युक्ति की परीक्षा होती है?"

"हां महाराज! मृगचक्षु का कहना था कि नाश होना वस्तु का स्वभाव है और स्वभाव बिना किसी सहायता के प्रति-समय रहता है, इसलिये वस्तु अपने नाश में किसी दूसरे की सहा-

पंडित कुलकर, जो कि एक बड़े विद्वान् थे और पंडित मृगचक्षु, जो कुछ कम न थे, उन दोनों में उपर्युक्त भिड़न्त हो गई थी। दोनों के साथ अपनी अपनी सेना थी—विद्यार्थियों का और अनुयायिओं का दल था। कुलकरजी थे नित्यवादी और मृगचक्षुजी थे अनित्यवादी। दोनों ने जब देखा कि 'मिथ्यात्वी, नास्तिक, मूर्ख पशु, दंभी, वञ्चक' आदि कहने पर भी धर्म-रक्षा अच्छी तरह नहीं हो रही है, तब दोनों में हाथापाई हो गई। कुल-करजी ने मृगचक्षुजी के मुँह पर ऐसा मुक्का जड़ दिया कि मृग-चक्षुजी के मस्तक में भरा हुआ मिथ्यात्व खून बनकर नाक में से बहने लगा।

धर्म-युद्ध की यह सलामी मृगचक्षुजी के दल ने स्वीकार कर ली। उधर कुलकरजी के अनुयायी भी छोटे बाप के बेटे नहीं थे। अन्तर्मुहूर्त तक जमकर धर्म-रक्षा हुई। स्त्रियाँ घबराकर भाग गईं, पथिकों के हृदय कम्पित हो गये, बच्चे रोने लगे। किसी तरह नगर-रक्षकों ने आकर धर्म-रक्षा का यह कार्य रोका।

[२]

मृगचक्षुजी की नाक में से खून बहा, यह समाचार सारे राजगृह नगर में विद्युद्वेग से फैल गया। चौराहों पर दल के दल दिखाई देने लगे। मानव-सागर में कोई तूफान आने-वाला है, इसके चिन्ह स्पष्ट होने लगे। इतने में समाचार मिला कि न्याय-सभा में पं० कुलकरजी बुलाये गये हैं; पं मृगचक्षु ने उन्हें प्रतिवादी बनाया है; दोनों वहाँ जमे हैं। बस, फिर क्या था! राजसभा के बाहर दल के दल एकत्रित हो गये।

पता नहीं लेती, अतएव वस्तु क्षणिक है। मैंने इस युक्ति का खण्डन कर दिया था, परन्तु दुराग्रहवश मृगचक्षु ने यह बात न मानी। तब मैंने यह सिद्ध करने के लिये मुक्का मार दिया कि और कोई ध्वंस परनिमित्तक मानो या न मानो, परंतु इस मुक्के के द्वारा होने-वाला ध्वंस तो परनिमित्तक मानोगे ही। सो वही हुआ महाराज! मृगचक्षु ने मुझे प्रतिवादी बनाया है, इससे सिद्ध हुआ कि मृगचक्षु ध्वंस को परनिमित्तक मानता है। इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मृगचक्षु का पराजय घोषित किया जाय; और मेरा मुक्का मारना युक्ति के अन्तर्गत समझा जाय।"

कुलकर की पंडिताई देखकर लोग चकित हो गये। कुल-कर का दल प्रसन्नता से फूल उठा। मृगचक्षु का दल ओंठ डसने लगा। महाराज श्रेणिक भी कुछ मुसकराने लगे। उनने मृगचक्षु से पूछा—

'विद्वन्! आपका इस विषय में क्या कहना है?'

'मेरा कहना यही है कि धर्म और नीति को अपने स्थान पर रहने दिया जाय और दर्शन को दर्शन के स्थान पर। दर्शन अगर व्यवहार में इस प्रकार हस्तक्षेप करेगा तो बड़ा अनर्थ होगा।'

कुलकर ने गर्ज कर कहा—"तो क्या दर्शन झख मारने के लिये है? जो अपने सिद्धान्त को व्यवहार में परिणत करते हुए डरता है, वह वञ्चक है, धूर्त है, उसका मुँह काला करना चाहिये। यदि तुम अपने सिद्धान्त को सत्य नहीं मानते हो तो पराजय स्वीकार करो!"

मृगचक्षु ने महाराज की तरफ़ मुँह करके कहा—"मैं

महाराज की इच्छा जानना चाहता हूँ।"

"मैं चाहता हूँ कि आप इसका समुचित उत्तर दें।"

'इसका उत्तर बहुत कड़ुआ होगा, महाराज!'

'रहने दो कड़ुआ, मैं कड़ुए उत्तर से नहीं डरता'—कुलकर ने गर्जकर कहा।

'अच्छा तो मैं कल उत्तर दूँगा। आज न्याय स्थगित रहे।'

'अच्छा कल सही।'

[२]

इसी दिन एक मुक़द्दमा और था। इसके वादी-प्रतिवादी भी पंडित थे। वादी थे प्रभाकरदेव शर्मा और प्रतिवादी थे आचार्य कौलिक। वादी का कहना था कि प्रतिवादी ने उसकी स्त्री के साथ व्यभिचार किया है।

प्रतिवादी का कहना था कि मैंने जो कुछ किया है, प्रभाकर के शब्दों को मानकर किया है। प्रभाकर अद्वैतवादी हैं; उनका कहना था कि जो द्वैत मानता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है। मुझे मृत्यु को प्राप्त होना नहीं था, इसलिये मैंने सब एकाकार मान लिया। तब मैं स्वस्त्री-परस्त्री का भेद भी भूल गया। प्रभाकर की पत्नी को परस्त्री कहकर मैं अद्वैत का विघात नहीं करता। और फिर प्रभाकरदेव के मत में यह सब माया है। माया के लिए इतनी चिन्ता क्यों!

महाराज श्रेणिक मन ही मन झुंझला उठे। ये दार्शनिक तो अंधेर किये देते हैं। उनने प्रभाकरदेव से पूछा—आपका इस पर क्या कहना है!

प्रभाकर ने कहा—'महाराज! यह अद्वैत का दुरुपयोग है। अद्वैत को व्यवहार में नहीं लाना चाहिये।'

"तो क्या वह दूसरों को ठगने के लिये ही है? महाराज! इसका न्याय कीजिये"—आचार्य कौलिक ने गर्जन्त भाषा में कहा।

महाराज किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। बोले—जब तक इस राज्य में ऐसे पंडित रहेंगे तब तक न्याय किस मुँह से यहां रहेगा?

आखिर यह मुकद्दमा भी कल पर मुल्तवी रहा।

[४]

'गजब हो गया! पंडित कुम्भकार के बेटे का खून।'

'अब तो इस नगर में रहना ही मुश्किल है।'

'लड़कों बच्चों की रक्षा कहां तक की जायगी?'

'परन्तु कुछ मालूम भी हुआ कि किसने खून किया है?'

'क्या बताएँ! सुनते हैं, पं० मृगचक्षु ने किया है।'

"पंडित क्या है, कसाई है।"

"आखिर उसने इस तरह बदला लिया।"

"हे राम! हे भगवान! इन पंडितों से बचाना।"

"सबके सब गुन्डे हैं।"

"अब देखें आज न्याय-सभा में क्या होता है।"

गली-गली में यही चर्चा थी। पंडित शब्द भयंकर क्रूर घृणित बनता जाता था। पंडिताई कोसी जा रही थी। मध्यान्ह में उत्सुक जनता न्यायालय के द्वार पर पहुँची। आज पं० मृगचक्षु प्रतिवादी थे। वे अपने कार्य को निर्भयता से स्वीकार कर रहे थे, परन्तु अपने को अपराधी नहीं मानते थे। आज वे भी पं० कुल-

कर की तरह दलीलें दे रहे थे। उनके कहने का सार यह था—

पंडित कुलकर नित्यवादी हैं। उनके मत में किसी वस्तु का नाश नहीं होता। इसलिये उन्हें विश्वास रखना चाहिये कि मैंने उनके लड़के के टुकड़े टुकड़े क्यों न कर दिये हों, परन्तु वह नित्य होने से कभी नष्ट नहीं होगा। उनका मेरे ऊपर दोषारोपण करना सरासर अन्याय है।

कुलकरजी आँसू बहा रहे थे और न्याय की दुहाई दे रहे थे। परन्तु आज मृगचक्षु की बारी थी। वे कह रहे थे—"अब दुहाई क्या देते हो? अगर मेरा दर्शन शस्त्र मारने के लिये नहीं है तो तुम्हारा भी नहीं है। अगर अपना खून बहाकर भी मुझे पराजय स्वीकार करना चाहिये था तो बेटा खोकर आज तुम पराजय स्वीकार करो। महाराज! मैंने कल ही कहा था कि इसका उत्तर बहुत कड़ुआ होगा। कुलकर ने कल कड़ुए उत्तर से जैसी निर्भयता बतलाई थी, वह आज कहाँ चली गई?"

ये बातें चल ही रहीं थीं कि न्याय-सभा के बाहर शोरगुल सुनाई दिया, और पलभर में आचार्य कौलिक दौड़ते हुए सभा में घुस आये। उनके सिर से खून बह रहा था। उनके पीछे प्रभाकरदेव हाथ में मोटा लट्ठ लिये हुए आए और न्याय-सभा के द्वार पर रुक रहे। महाराज श्रेणिक ने जब यह दृश्य देखा तो उनका चेहरा तमतमा उठा। उनने डाँटकर कहा "इस गुन्डाशाही का क्या अर्थ है? मालूम होता है कि इन पंडित गुन्डों को राज्य से निकालना पड़ेगा। प्रभाकरदेव! आचार्य कौलिक को सताने का अनर्थ तुमने क्यों किया?"

प्रभाकर देव निर्भयता से मुसकराते हुए बोले— महाराज ! मैंने आचार्य कौलिक का कुछ भी नहीं किया। हां, उनके शरीर ने मेरी पत्नी के साथ व्यभिचार किया, इसलिये उसकी जरा मरम्मत कर दी है। परन्तु शरीर तो ईंट-पत्थर की तरह जुदी वस्तु है; इससे आचार्य कौलिक की क्या हानि है ? अगर इनका सिद्धांत सत्य है तो इन्हें शरीर की पर्वाह क्यों करना चाहिये ?

प्रभाकर देव की बातें सुनकर आचार्य कौलिक दाँत पीस रहे थे, पर निरुत्तर थे। महाराज श्रेणिक किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए झुँझला रहे थे। वह दर्शनों का युग था, ब्राह्मणों का वर्चस्व था। ये शक्तियाँ कानून के मार्ग में भी रोड़े अटका सकती थीं। अन्त में ये दोनों मुक़दमे कल के लिये मुल्तवी रहे।

[५]

उसी दिन मध्यान्ह के बाद श्रेणिक को समाचार मिला कि परमार्हत ज्ञातृपुत्र महावीर अपने शिष्यों सहित पधारे हैं और विपुल की तलहटी में ठहरे हैं। चित्त-शान्ति के लिये श्रेणिक ऐसा ही निमित्त चाहते थे। वे म० महावीर के पास पहुँचे। उस दिन उनका उपदेश स्याद्वाद पर हुआ। इससे श्रेणिक को बड़ी प्रसन्नता हुई। उनने म० महावीर से आज के मुक़दमों का ज़िकर किया, अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता बतलाई और पूछा कि इनको दंड कैसे दिया जाय; और अगर दण्ड न दिया तो प्रजा में अंधेर हो जायगा।

सारी हकीकत सुनकर म० महावीर कुछ मुसकराये। उनने कहा—यदि वे चारों पंडित अपने एकांत पक्ष पर इसी प्रकार दृढ़

हैं और उसे इस प्रकार व्यवहार में भी लाते हैं, तब आप उन्हें न्यायोचित दंड दें। दंड भोगने में उन पंडितों को कोई आपत्ति न होगी; क्योंकि दंड भोगने पर भी कुलकर की निर्मलता में कुछ अन्तर न आयगा; मृगचक्षु तो प्रतिसमय मर रहे हैं, इससे बढ़कर आप क्या दंड देंगे ! प्रभाकरदेव के लिये यह दंड माया ही होगा; और कौलिक को तो शरीर से सम्बन्ध ही क्या है ! और आप तो शरीर को ही दंड देंगे। इस प्रकार आप नीति की रक्षा कीजिये। इससे जनता का भी सुधार होगा और इन पंडितों की भी बुद्धि ठिकाने आ जायगी।

म० महावीर की युक्ति श्रेणिक को बहुत रुची।

दूसरे दिन न्याय-सभा में न्याय सुना दिया गया कि चारों विद्वानों को आज से आठवें दिन प्राण-दंड दिया जायगा; इन दिनों में नगर-रक्षकों की देखरेख में रहकर वे लोग जहाँ चाहे जा सकेंगे। प्राण-दण्ड से उन विद्वानों की कुछ भी हानि नहीं है, यह बात भी उन्हीं विद्वानों के सिद्धान्त को लेकर स्पष्ट कर दी गई थी।

[६]

न्याय सुनते ही पंडितों की पंडिताई हवा हो गई। साधारण प्रजा में कोई उनसे सहानुभूति नहीं रखता था। पीठ-पीछे लोग हँसते अवश्य थे। पंडितों को आने-जाने की, मिलने-जुलने की सुविधा तो थी, परन्तु प्राण-दण्ड से छुटकारा पाने का कोई उपाय न था। एक दिन इसी तरह बीता। दूसरे दिन विपुलाचल की तलहटी में ये लोग म० महावीर की शरण में पहुँचे, अपना दुख

रोया, छुटकारे का उपाय पूछा ।

म० महावीर ने कुछ स्मित करके पूछा—जब आप लोग अपने सिद्धान्त पर दृढ़ हैं, तब आप मृत्यु से डरते क्यों हैं ? आप लोगों को मरना-जीना एक समान है ।

"महाराज ! हम लोग भूल में हैं, परन्तु समझ में नहीं आता कि हमारी भूल क्या है ! तर्क हमको धोखा दे रहा है ।"

"भाइयों ! तर्क धोखा नहीं देता, किन्तु मनुष्य अपने को स्वयं धोखा देता है । लोग तर्क को अपने अहंकार का गुलाम बनाना चाहते हैं, इससे धोखा खाते हैं । तर्क का अधूरा उपयोग किया जाता है, इसलिये व्यवहार में आकर वह लँगड़ाकर गिर पड़ता है । तर्क कहता है कि सत् का विनाश नहीं होता इसलिये वस्तु नित्य है, परन्तु जीवन और मृत्यु में जो अन्तर है—एक को हम चाहते हैं दूसरे से हम डरते हैं, इसका भी तो कुछ कारण है । इससे यही मालूम होता है कि वस्तु एक अंश से नित्य है, एक अंश से अनित्य है; एक अंश से समान या अभिन्न है और दूसरे अंश से विशेष या भिन्न है । इस प्रकार वस्तु तो अनेक धर्मात्मक है; और आप लोग एक ही धर्म को पकड़कर रह जाते हैं । इससे व्यवहार में असंगति आ जाती है, जिसका फल आप देख ही रहे हैं ।" इस बात को लेकर म० महावीर ने विस्तृत व्याख्यान दिया । अन्त में पंडितों ने कहा—"महाराज ! हम अपनी भूल समझ रहे हैं । हमने सचाई को पाया है, इस खुशी में हम मरने को भी तैयार हैं ।"

"तब तुम्हें मरना न पड़ेगा । जिस मौत की ज़रूरत थी

वह तो हो चुकी। अब यह तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ है।

इतने में श्रेणिक भी आ पहुँचे। म० महावीर ने कहा—"राजन्! अब इन्हें क्षमा किया जाय। इनको प्राण-दण्ड मिल चुका और इनका पुनर्जन्म भी हो गया है।"

श्रेणिक ने आश्चर्य से पूछा—"इसका क्या मतलब है, गुरुदेव?"

"मतलब बहुत बड़ा नहीं है। जो एकान्तवादी कुलकर, मृगचक्षु, प्रभाकर और कौलिक—एकान्तवाद और अहंकार के नशे में अपना और दूसरों का अकल्याण करते थे, वे मर चुके। अब तो ये स्याद्वादी कुलकर, मृगचक्षु, प्रभाकर, कौलिक दूसरे ही हैं। इनको प्राण-दण्ड देने की ज़रूरत नहीं है।

श्रेणिक ने सिर झुकाकर कहा—"जैसी आपकी आज्ञा।"

वीर महिला

'चित्रकार ! तुम्हारी कल्पना-शक्ति अद्भुत है। ऐसी सुन्दरी की कल्पना करके चित्र बनाना सहल नहीं है।'

'नहीं महाराज ! यह कोरी कल्पना नहीं है। जिस रमणी का यह चित्र है—वह सशरीर मौजूद है।'

'ऐं ! क्या कहा ? सशरीर मौजूद है ! हो नहीं सकता। ऐसा सौन्दर्य स्वर्ग में भी नहीं हो सकता, मर्त्यलोक की तो बात ही क्या है ?'

'नहीं महाराज ! मैं सच कहता हूँ यह रानी मृगावती का चित्र है, जो कि कौशाम्बी नरेश की पत्नी हैं।'

'ऐं ! यह कौशाम्बी नरेश की पत्नी है ? ओह ! एक भिक्षुक के घर में यह रत्न पड़ा हुआ है। मेरे रहते उसे क्या अधिकार है कि वह इस रत्न का स्वामी बने। दूत !'

"महाराज !"

"जाओ ! और कौशाम्बी नरेश को सूचित करो कि यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, तो मृगावती सरीखे रत्न को मेरे हवाले करो ! बन्दर के गले में मोतियों की माला शोभा नहीं पाती। प्रधानजी ! पत्र लिखकर दूत के हाथ भेज दो।"

"जो आज्ञा।"

दूत को बिदा करके राजा चण्डप्रद्योत अपने शयनागार में चला गया; परन्तु वहाँ भी उसे चैन नहीं मिली। उस दिन चण्ड-प्रद्योत ने भोजन ही न किया, रणवास में भी बेचैनी फैल गई।

सन्ध्या होते ही राजमहिषी ने शयनागार में प्रवेश किया।

राजमहिषी के ऊपर चण्डप्रद्योत का सबसे अधिक प्रेम था। राजमहिषी सुन्दरता की खानि, प्रेम की पुतली होने के साथ ही तेजस्विनी भी थी। उन्हें अपने स्त्रीत्व का अभिमान था। जिस समय उनने चण्डप्रद्योत की अवस्था का हाल सुना और उन्हें यह मालूम हुआ कि एक स्त्री के पीछे यह सब काण्ड उपस्थित हुआ है, तब उनका हृदय तिलमिला उठा। पुरुषों को एक नहीं; दो नहीं; बल्कि बीसों विवाह करने का अधिकार हैं, फिर भी उनकी काम-तृष्णा नहीं मानती, वे पर-स्त्रियों को छीनने की घात लगाये रहते हैं। सतीत्व का सारा बोझ स्त्रियों के सिर पर है। और पुरुषों के लिये पाप भी गौरव की बात है। यदि पुरुष स्त्री का पति (स्वामी) है तो, स्त्री पुरुष की पत्नी (स्वामिनी) क्यों नहीं है! है; जरूर है।

इन सब विचारों से उनका सिर चकराने लगा। फिर भी उनने किसी तरह अपने को सम्हाल कर भीतर प्रवेश किया।

महारानी को देखकर चण्डप्रद्योत चौंक पड़ा। उसने धीरे से हाथ रखकर पूछा—'क्या आज तबियत खराब है?'

"नहीं।"

"फिर भोजन क्यों नहीं किया! इसका कारण?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो!"

"कह तो दिया—कुछ नहीं।"

"मृगावती के आजाने पर हमारे साथ कैसा व्यवहार रक्खेंगे,

क्या इस बात का अभ्यास कर रहे हो ?"

चण्डप्रद्योत चौंक पड़ा। वह समझ ही नहीं सकता था कि क्या उत्तर दिया जाय। थोड़ी देर में उसने अनमने मुँह से उत्तर दिया—"जैसा होगा देखा जायगा।"

राजमहिषी पीछे हट गई, और लौटने लगी। इतने में न मालूम चण्डप्रद्योत के हृदय में क्या आया कि उसने उठकर महारानी का हाथ पकड़ लिया। महारानी ने गम्भीरता से कहा—

'मुझे रोकते क्यों हो ?'

'कुछ बात करना है।'

'क्या बात !'

'तुम इतनी नाराज़ क्यों हो गई हो'

"क्या तुम्हें इतना भी नहीं मालूम ! स्त्रियों के विषय में आचरण सम्बन्धी झूठी सच्ची आशङ्का होने से ही पुरुषों का खून खौल उठता है, और वे मरने मारने पर उतारू हो जाते हैं। स्त्रियों को ऐसा दंड दिया जाता है कि जिससे उनका यह जन्म ही नहीं, अनेक जन्म नष्ट हो जाते हैं। किन्तु, पुरुष उसी पाप को खुल्लम-खुल्ला करते हैं। फिर भी वे अपनी नाम-मात्र की पत्नियों से पूछते हैं कि 'इतनी नाराज़ क्यों हो गई हो ?' अर्थात् पुरुषों के ऐसे पाप भी स्त्रियों की नाराज़ी के लिये पर्याप्त कारण नहीं हैं !"

राजमहिषी के स्वभाव को चण्डप्रद्योत अच्छी तरह जानता था। उसका हृदय कोमल था, उसमें प्रेम था, परन्तु साथमें उस में तेज भी था। वह खरी बात कहनेवाली थी। इतना होने पर भी उसके मुँह से इतनी कड़ी बातें कभी न निकलीं थीं। आज की बातें सुनकर चण्ड-

प्रद्योत के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लेकिन आज उसके पास कुछ उत्तर न था। वह थोड़ी देर चुप रहकर फिर बोला—

"स्त्रियों को पुरुषों के साथ इतनी स्पर्धा न करना चाहिये।"

"क्यों? क्या उन्हें सुख-दुःख नहीं होता? क्या उनके प्राण नहीं हैं?"

चण्डप्रद्योत ने कुछ कड़क कर कहा—"प्राण तो पशुओं के भी होते हैं?"

'तो स्त्रियाँ पशु हैं?'

अबकी बार चण्डप्रद्योत कुछ लज्जित-सा हो गया। मनुष्य किसी को पशु समझ सकता है; परन्तु उसीके सामने उसे पशु कहना कठिन है। वह अपने स्वार्थ और क्रूरता को नङ्गा नहीं करना चाहता। इसलिये चण्डप्रद्योत ने कुछ नम्र होकर कहा—"फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्त्रियों को पुरुषों के काम में हस्तक्षेप न करना चाहिये।"

"यह मैं मानती हूँ कि स्त्री और पुरुष का कार्य-क्षेत्र जुदा जुदा है। युद्धक्षेत्र में जाकर आप कहाँ पर सेना खड़ी करें और कहाँ पर न करें—इस विषय में मैं हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इसी प्रकार गृह-प्रबन्ध के काम में आप हस्तक्षेप नहीं कर सकते। योग्यता होने पर सिर्फ एक दूसरे को सलाह और सहायता दे सकते हैं। परन्तु, जिन कार्यों से स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में खटाई पड़ सकती है, उनके विषय में एक दूसरे को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। इसलिये मैं कहती हूँ कि आप मृगावती का ध्यान छोड़ो। एक स्त्री के रहते तो दूसरा विवाह भी न करना चाहिये,

फिर परस्त्री-हरण तो महापाप है ।"

"अच्छा ! अब मैं तुमसे शिक्षा नहीं लेना चाहता ।"

तो मैं भी यह कहती हूँ कि स्त्री को अपने जीवन पर पूर्ण अधिकार है । किसी बन्धन में रहना-न रहना उसकी इच्छा पर निर्भर है ।"

इतना कहकर राजमहिषी चली गई । चण्डप्रद्योत आँखें फाड़कर पत्थर की मूर्ति की तरह स्तब्ध खड़ा रह गया ।

(२)

कौशाम्बी नरेश शतानिक बहुत दिनों से बीमार थे । उनकी पत्नी मृगावती में जितना सौन्दर्य था उससे भी अधिक पतिप्रेम था । बीमारी की हालत में रानी ने पति की दिन-रात सेवा की, फिर भी बीमारी न घटी । यह देखकर मृगावती को अपना भविष्य बिलकुल अन्धकार-पूर्ण मालूम होने लगा । महाराज की हालत भी नाजुक हो गई थी । मृगावती को ही राज्य का कारबार देखना पड़ता था । राजकुमार अभी बिलकुल बालक ही था । अगर महाराज की तबियत कुछ अच्छी होने लगती तो मृगावती को कुछ आशा भी होती । परन्तु अवस्था बिलकुल उलटी थी ।

इसी समय दासी ने आकर खबर दी कि राजा चण्डप्रद्योत का एक दूत आया है ।

'क्या कहता है ?'

'एक पत्र लाया है ।'

'दूत के ठहरने का प्रबन्ध कर और पत्र इधर ला ।'

रानी मृगावती की आज्ञा के अनुसार कार्य किया गया ।

पत्र महाराजा के नाम पर था । रानी ने ही वह पत्र पढ़ कर सुनाया ।

पत्र

कौशाम्बी नरेश श्री शतानिक को प्रचण्ड विक्रमशाली महाराजाधिराज श्री चण्डप्रोतजी सूचित करते हैं कि आपके पास जो रमणीरत्न मृगावती है उसे महाराज की सेवा में शीघ्र ही उपस्थित करें। सर्वोत्कृष्ट रत्नों का स्वामी सर्वोत्कृष्ट शक्तिधारी राजा ही हो सकता है। इसलिये आपको उस रमणीरत्न के रखने का कुछ अधिकार नहीं है। अभी तक जो हुआ सो हुआ, लेकिन अब महाराज का ध्यान इस ओर गया है। इसलिये आपकी भलाई इसी में है कि रमणीरत्न मृगावती को समर्पित करके महाराज के प्रीतिभाजन बनें।

यदि दुर्भाग्य से आप अपना भला न सोच सकेंगे और आज्ञा-पालन में आनाकानी करेंगे तो खेद के साथ लिखना पड़ता है कि तलवार के द्वारा उस आज्ञा का पालन कराना पड़ेगा। इसलिये हमें आशा है कि आप समय पर ही सचेत हो जायँगे, और तलवारों को म्यान से बाहर न निकलने देंगे।

महाराज की आज्ञा से—

गृह-सचिव।

पत्र सुनते ही महाराजा शतानिक के मुँह से चीख निकली। बीमारी के कारण उनकी मानसिक दुर्बलता यों ही बढ़ रही थी; लेकिन इस आघात ने तो मानों उन्हें मृत्यु के मुँह में ढकेल दिया। रानी के ऊपर तो मानों पहाड़ ही टूट पड़ा। न वह महाराज को

सान्त्वना दे सकती थी और न महाराज ही उसे सान्त्वना दे सकते थे। विकट परिस्थिति थी।

बड़ी देर तक चुपचाप अश्रुवर्षण के बाद मृगावती ने राजा से कहा—

"महाराज! चिन्ता छोड़िये। जैसा होगा देखा जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि चण्डप्रद्योत, पापी, क्रूर और बलशाली है। इसलिये राज्य की रक्षा करना कठिन है। परन्तु राज्य से भी बढ़कर वस्तु है धर्म और अभिमान। हम जीकर नहीं तो मरकर उसकी रक्षा कर सकते हैं। आज्ञा दीजिये कि दूत को जवाब दिया जाय।"

महाराज की दशा बिलकुल बिगड़ गई थी। उनके मुँह से कुछ भी उत्तर न मिला। तब महाराज की तरफ़ से रानी ने पत्र लिखा।

पत्र

उज्जयिनी नरेश श्री. चण्डप्रद्योत को कौशाम्बी नरेश शतानिक का जयजिनेन्द्र!

अपरञ्च आपका पत्र आया। बाँचकर बड़ा खेद हुआ। कोई भी मनुष्य—अगर उसमें मनुष्यता का शतांश भी मौजूद है—ऐसी पापमयी बातें मुँह से नहीं निकाल सकता। फिर महात्मा महावीर के अनुयायी के मन में ऐसे पाप-विचारों का आना बड़े दुःख की बात है।

मालूम होता है कि इस समय आप ऐश्वर्य और शक्ति के मद से उन्मत्त हो रहे हैं, इसलिये जैनत्व के साथ मनुष्यत्व भी खो चुके हैं।

एक साधर्मी भाई के नाते हम आपको सूचित करते हैं कि आप इन पाप-विचारों को छोड़कर प्रायश्चित लेकर पवित्र बनें। यदि आप मनुष्यत्व को बिलकुल तिलाञ्जलि ही दे चुके हों तो आप बड़ी खुशी से युद्धक्षेत्र में आइये। वहाँ पर हमारी तलवार आपका स्वागत करेगी। ऐसे पापियों को दंड देने की ताक़त उसमें अभी मौजूद है। आपका हितैषी—

शतानिक।

पत्र तो भेज दिया गया लेकिन मृगावती की चिन्ता और भी अधिक बढ़ गई। उसे अपनी चिन्ता नहीं थी; क्योंकि वह मरना जानती थी। उसे चिन्ता थी—अपनी मान-रक्षा की, महाराज की और बालक राजकुमार की।

शाम के समय महाराज की अवस्था कुछ सुधरी। उनने आँखें खोलीं और क्षीणस्वर से मृगावती से कहा—'प्रिये! क्या उपाय किया?'

मृगावती इस समय किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रही थी। वह समझ ही नहीं सकती थी कि क्या उत्तर दे। किन्तु महाराज की ऐसी अवस्था में वह उनके हृदय को धक्का नहीं देना चाहती थी। उसने हृदय की सारी वेदनाओं को दबाया, उस पर पत्थर रख दिया। अपने रुँधते हुए गले को किसी तरह साफ़ कर उसने कहा—"महाराज! डर क्या है! किस की ताक़त है जो मेरी तरफ़ नज़र उठा के देख सके! मैं अपने गौरव की रक्षा करूंगी। मैं इज्जत के लिये मरना जानती हूँ।"

महाराज का चेहरा खिल गया। किन्तु थोड़ी ही देर में

उस पर फिर विषाद के चिन्ह नज़र आने लगे। मृगावती ने कहा—

"महाराज! आप चिन्ता क्यों करते हैं?"

"मृगावती तुम सच्ची क्षत्राणी हो; मानुषी नहीं देवी हो। परन्तु मैं अभागा हूँ। मुझे खेद यही है कि ऐसे विकट अवसर पर मैं घर में बिस्तरों पर पड़ा पड़ा मर रहा हूँ। रणक्षेत्र की गौरव-दायिनी भूशय्या मेरे भाग्य में नहीं है।"

कहते कहते महाराज का गला रुँध गया। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली।

मृगावती भी रो रही थी। उसने रुँधे गले से कहा—"महाराज! धैर्य रखिये। आपकी तबीयत शीघ्र ही अच्छी हो जावेगी और आप शत्रु को उसके पाप का फल चखा सकेंगे।"

महाराज एक हलकी हँसी हँसे और सिर हिलाया। इस हँसी में और सिर हिलाने में निराशा की असंख्य कलोलें उठ रही थीं। रानी ने उनका अनुभव किया, परन्तु वह रोई चिल्लाई नहीं। उसने बड़ी हिम्मत के साथ गले को अपने वश में रक्खा, किन्तु आँखें न मानी, उनने धीरे से दो मोती टपका ही दिये।

रात्रि भर महाराज की तबियत बहुत ख़राब रही। रानी मृगावती ने तो पलक भी न मींचे। रात्रि भर जागती रही, सेवा करती रही, प्रार्थना की, परन्तु सब व्यर्थ गया। सवेरे के समय जब कि संसार का सूर्य ऊग रहा था तब रानी मृगावती का सूर्य डूब रहा था।

(३)

रानी मृगावती वीराङ्गना थी। उसके हृदय में बल था,

साहस था, धैर्य था। लेकिन महाराज के स्वर्गवास से उसका बल साहस और धैर्य छूट गया। वह बारबार महाराज के शव के ऊपर गिर पड़ती थी। जब लोग दाह के लिये महाराज का शव ले जाने लगे तो रानी शव से चिपट गई। यह देखकर दर्शकों का भी साहस छूट गया। असंख्य मुखों से आर्तध्वनि निकली। उस समय समस्त प्रजा रो रही थी, मन्त्री रो रहे थे। राजमहल की एक एक ईंट रो रही थी।

किसी तरह दाह क्रिया हो गई। कुछ दिन शान्ति रही, पर एक दिन दूत के द्वारा वह भयंकर समाचार मिला ही। मन्त्रियों की चिंता बढ़ गई। वे समझ ही नहीं पाते थे कि रानी को यह समाचार किस तरह दिया जाय।

आखिर डरते डरते एक वृद्ध मन्त्री ने यह समाचार सुनाया किन्तु उसे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि रानी ने यह समाचार सुनकर कोई घबराहट प्रकट नहीं की। बल्कि थोड़ी देर तक एकटक देखकर वे उठ खड़ी हुई।

जहाज़ के डूब जाने पर जब कोई आदमी समुद्र पर तैरता रह जाय और आता हुआ कोई मच्छ दिख पड़े तो उसकी जैसी हालत होती है वही हालत रानी की थी। उसके चारों ओर विपत्तियाँ थी। वह असहाय और निराश हो गई थी।

जब तक थोड़ी-बहुत आशा रहती है तब तक मनुष्य चिन्ता करता है, लेकिन निराशा की सीमा पर पहुँच जाने पर वह चिन्ता छोड़ देता है। रानी मृगावती ने चिन्ता छोड़ दी थी। उसने निश्चय कर लिया था कि युद्धक्षेत्र की शस्त्र-शय्या पर ही

मैं जीवन छोड़ूँगी। मेरे जीते जी कोई मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

चण्डप्रद्योत की विशाल सेना ने कौशाम्बी नगरी को घेर लिया। उसे यहाँ पर राजा शतानिक की मृत्यु का समाचार मिल गया था। इसलिये वह समझता था कि असहाय चिड़िया को फँसाने में अब बहुत देर न लगेगी। खून-खराबी का मौका न आयगा। यही समझकर उसने किसी तरह की रुद्रता न दिखलाई। वह जानता था कि नारी-हृदय तलवार से पराजित नहीं होता, वह फूल से पराजित होता है।

रानी मृगावती ने देखा कि कौशाम्बी नगरी तो असंख्य सैनिकों से घिर गई है, लेकिन अभी तक किसी तरह का आक्रमण नहीं हुआ है। वह इसी उधेड़बुन में लगी हुई थी कि इतने में चण्डप्रद्योत का दूत आया और उसने एक पत्र दिया। रानी ने एकान्त में उस पत्र को पढ़ा—

श्रीमती मृगावतीदेवी की सेवा में !

प्रिये ! मैं यहाँ तुमसे युद्ध करने नहीं आया था, किन्तु मैं उस कण्टक को हटाने आया था जो कि हमारे और तुम्हारे बीच में पड़ा था। अब दैव ने ही उस कण्टक को दूर कर दिया है इसलिये युद्ध की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई है। आशा है, अब तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करोगी। मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ किन्तु सेवक हूँ। तुम्हारे सौन्दर्य का प्यासा हूँ।

—प्रेमपिपासु

चण्डप्रद्योत

पत्र पढ़ने पर रानी ने नीचे का ओठ चबाया और पत्र के टुकड़े टुकड़े कर दिये। इतने पर भी जब सन्तोष न हुआ तो उसे पैरों के नीचे डालकर रौंद डाला। दूत के द्वारा सन्देश भेज दिया कि पत्र का उत्तर कल दिया जायगा।

(४)

मामला ऐसा हो गया था कि मंत्री-मण्डल कुछ भी सलाह नहीं दे सकता था। रानी को अपने शील की चिन्ता नहीं थी। वह प्राण देकर शील बचा सकती थी, और प्राण देना वह जानती थी। लेकिन उसे अपने अनाथ बच्चे की चिन्ता थी। मरने से निर्दोष पत्नीत्व बच सकता था परन्तु मातृत्व की बलि होती थी।

दूसरे दिन फिर चण्डप्रद्योत का दूत आया और उत्तर माँगा। मंत्री लोग क्या उत्तर दें? उनकी तो अक्ल ही कुछ काम नहीं देती थी। लेकिन उस दिन रानी के मुँह पर कुछ दूसरा ही रङ्ग था। रानी ने दूत को पत्र देकर विदा किया।

(५)

पत्र लेकर चण्डप्रद्योत ने बड़ी उत्सुकता से पढ़ा—

महाराज!

आज मैं विधवा हूँ। इसके पहिले मैं स्वतन्त्र नहीं थी, किन्तु दैव ने यह बन्धन तोड़ दिया है और मैं अब स्वतन्त्र हूँ। इसीलिये आपके पत्र पर मैं स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार कर सकी हूँ।

बहुत विचार करने के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँची हूँ कि आपकी आज्ञा मानने में ही मेरा भला है। हाँ, एक प्रश्न ऐसा है जो आपकी आज्ञा-पालन में बाधक हो रहा है।

आपको मालूम होगा कि मैं राजपत्नी होने के साथ एक बालक की माँ भी हूँ। यद्यपि पत्नीत्व का बन्धन टूट गया है परन्तु मातृत्व का बन्धन नहीं टूटा है। मातृवात्सल्य बालक को असहाय अवस्था में नहीं छोड़ने देता। मेरा पुत्र अभी बिलकुल अबोध है। इधर कौशाम्बी राज्य चारों तरफ़ शत्रुओं से घिरा हुआ है। मेरी अनुपस्थिति में अबोध बालक की क्या दशा होगी इसके कहने की ज़रूरत नहीं। यद्यपि आप में कौशाम्बी राज्य की रक्षा करने की शक्ति है, परन्तु आप तो उज्जयिनी में रहेंगे और शत्रु सिर पर ऊधम मचायेंगे, तब आपके द्वारा भी राज्य की रक्षा न हो सकेगी। इसलिये मेरी प्रार्थना है कि आप कुछ वर्षों तक धैर्य रखिये। पुत्र के समर्थ होने पर मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूँगी, आशा है आप मेरी परिस्थिति पर विचार करके मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे। —विनीता

मृगावती

पत्र पढ़कर चण्डप्रद्योत असमंजस में पड़ गया। आज उसे मालूम हुआ कि बड़े बड़े वीरों को जितने की अपेक्षा एक महिला को जीतना बहुत कठिन है, परन्तु दूसरा उपाय तो था नहीं। जिस रास्ते पर वह चला था उसी रास्ते से उसे विजय की आशा थी। लेखनी का काम तलवार नहीं कर सकती थी।

चण्डप्रद्योत ने फिर पत्र लिखा—

प्रिये!

तुम्हारा पत्र मिला। मेरी प्रार्थना तुमने मंजूर की इसका मुझे बड़ा हर्ष है। लेकिन तुम्हारे पत्र के उत्तरार्ध ने मुझे और भी

अधिक असमंजस में डाल दिया है।

अगर कोई भीख माँगने आवे और उसे आश्वासन देकर फिर कह दिया जाय कि 'अभी मौक़ा नहीं फिर आइयेगा', तो उस भिखारी व्यक्ति को जितना कष्ट होगा—उसी तरह का, किन्तु उससे हज़ार-गुणा कष्ट मुझे हो रहा है।

प्रिये ! तुम्हें अब कौशाम्बी की चिन्ता न करना चाहिये, और न बालक के लिये ही अपने जीवन को बर्बाद करना चाहिये। यथाशक्ति मैं कौशाम्बी की रक्षा करूंगा। कौशाम्बी की रक्षा के लिये जैसा जो कुछ प्रबन्ध तुम चाहोगी—वैसा ही हो जावेगा। मुझे एक एक घड़ी एक वर्ष के समान बीत रही है। इसलिए दया कर अब मुझे ज्याद: न तड़पाओ।

तुम्हारा प्रेमी—

चण्डप्रद्योत।

चण्डप्रद्योत ने पत्र भेज दिया। दो घड़ी के भीतर ही उसका उत्तर आया।

महाराज !

पत्र मिला। आप पुरुष हैं, अगर आप स्त्री होते और माता बनने का सौभाग्य प्राप्त करते तो आपको मालूम होता कि माता का स्नेह क्या चीज़ है ! माता के छोटे से हृदय में अपने पुत्र के लिए कितना स्थान है ! माता अपने पुत्र के लिए सर्वस्व [illegible] सकती है। जब गाय अपने बछड़े के लिए शेर का सामना कर सकती है, तब मैं मानुषी हूँ। गाय से भी गई बीती हो जाऊँ ?

महाराज ! मैं जानती हूँ कि आपको मेरे [illegible] से [illegible]

तोष न होगा। यह चिन्ता मुझे बड़ी देर से सता रही है। मैं आपको भी दुखी नहीं करना चाहती। इसलिए आपकी सलाह के अनुसार यही ठीक है कि कौशाम्बी का प्रबन्ध कर दिया जाय।

प्रबन्ध के लिए दो बातों का उपाय करना आवश्यक है। एक तो यह कि जिसमें शत्रु-दल नगर में प्रवेश न करे, दूसरा यह कि नगर के घेर लेने पर सेना को और नागरिकों को भोजन का कष्ट न हो, इसलिए आप नगर के चारों तरफ़ मज़बूत कोट बनवा दें और कम से कम एक साल के लिए भोजन-सामग्री एकत्रित कर दें। एक साल के बाद फिर देखा जायगा। आपके इस काम में मैं और मेरे आदमी आपकी मदद करेंगे। अगर अच्छी तरह से काम किया जायगा तो एक महीने में ही सब काम हो जायगा। इसके बाद मुझे विवाह करने में कोई ऐतराज न रहेगा।

आपकी:—

मृगावती।

पत्र पढ़कर चण्डप्रद्योत को बहुत शान्ति मिली। महीने भर के भीतर कोट तैयार हो गया। मृगावती ने इसके लिए स्वयं दिन-रात परिश्रम किया। सीसा पिला-पिलाकर कोट की दीवालें वज्रमय बना दी गईं। शस्त्रास्त्र भी बहुत तैयार करवाये। मृगावती ने एक साल के बदले दो साल के लायक भोजन-सामग्री एकत्रित कर ली। बीसों नये कुएं खुदवा डाले। नये सैनिकों की भर्ती की गई और उनको सिखा-पढ़ाकर योग्य सैनिक बनाया गया। सब काम हो जाने के बाद महारानी ने जाने का निश्चय किया। प्रजा में 'हाहाकार' मच गया। चण्डप्रद्योत के शिविर में आनन्द-भेरी बजने

लगी ।

ठीक समय पर चण्डप्रद्योत दूल्हा की तरह सज-धजकर मृगावती के स्वागत के लिये खड़ा था । इसी समय कोट के ऊपर से एक तीर आया और चण्डप्रद्योत के मुकुट में लगा । मुकुट टूट-कर ज़मीन पर गिर पड़ा । सभी सामन्त चिल्ला उठे—हाय ! हाय ! यह कैसा अपशकुन हुआ ! तीर के साथ यह पत्र भी था:—
चण्डप्रद्योत !

तुम मनुष्य नहीं, राक्षस हो ! तुम एक अबला को अपना शिकार बनाना चाहते हो । अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना चाहते हो । पशु-बल से नारी-हृदय को जीतना चाहते हो । परन्तु याद रक्खो ! पाप का फल कभी अच्छा नहीं होता । अब तुम्हारा भला इसीमें है कि सकुशल घर लौट जाओ । यदि मेरी सलाह न जँचे तो यहीं पड़े पड़े कोट की दीवालों से सिर पीटते रहो । दो वर्ष बाद देखा जायगा ।

मैं आशा करती हूँ कि तुम्हें सुबुद्धि प्राप्त होगी और तुम इस अमूल्य मानव-जीवन को नष्ट न करोगे ।   हिताकांक्षिणी—
मृगावती ।

चण्डप्रद्योत की आँखें लाल हो गईं । वह ओंठ डसने लगा और घूर-घूर कर कौशाम्बी का कोट देखने लगा, लेकिन इस समय कौशाम्बी अजेय थी ।

इसी समय उज्जयिनी से दूत आया । उसने समाचार दिया कि राजधानी में अशान्ति मची है । इसी से चण्डप्रद्योत को शीघ्र ही लौटना पड़ा ।

(६)

चण्डप्रद्योत लज्जित होकर घर आया। लज्जा के मारे वह अपनी रानी के पास भी नहीं जा सकता था। परन्तु इस तरह कब तक गुज़र होगी, यही सोचकर वह अन्तःपुर में गया। परन्तु वहाँ रानी का पता न था। चण्डप्रद्योत ने आश्चर्य के साथ सखियों से पूछा—रानी कहाँ है?

"वे तो गईं।"

"कहाँ?"

इस प्रश्न के उत्तर में उनने आँसू बहा दिये और सभी सिसक-सिसककर रोने लगीं।

राजा ने घबराहट के साथ पूछा—देहान्त हो गया?

'नहीं महाराज! देहान्त नहीं हो गया, परन्तु जो कुछ हुआ वह देहान्त के बराबर ही है।'

'तो ठीक ठीक कहो न, क्या बात है?'

'महाराज! आपके प्रस्थान के पीछे एक दिन महारानी ने छिपकर विष-पान का उद्योग किया, किन्तु हम लोगों की नज़र पड़ गई और यह कार्य न हो पाया। उसके कुछ दिन बाद न मालूम वे कहाँ चली गईं। बिस्तरों पर आपके नाम का यह पत्र पड़ा मिला था।'

चण्डप्रद्योत पत्र खोलकर पढ़ने लगा—

महाराज!

विवाह के समय हम और आप एक बन्धन में बँधे थे। मैंने अपने बन्धन को ज़रा भी ढीला नहीं करने दिया। आपके प्रेम

में मैं अपनी वास्तविक स्थिति को भूली हुई थी; परन्तु उस दिन मैंने अपने को पहिचाना। उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मैं दासी हूं, पत्नी नहीं। लेकिन मैं इस घर में पत्नी बनकर सेवा कर सकती हूँ, दासी बनकर गुलामी नहीं।

अब आप मृगावती को ले ही आयेंगे। इसलिये मैं आप दोनों के बीच का काँटा नहीं बन सकती। मैं अपने को मिटा सकती हूँ; परन्तु अपने पत्नीत्व का ऐसा अपमान नहीं सह सकती।

पुरुष स्त्रियों को जो चाहें समझें, परन्तु स्त्रियाँ भी अपने मानव-जीवन का उत्तरदायित्व समझती हैं। उनका जीवन आत्मोन्नति करने के लिये है, न कि गुलामी करने के लिये। महात्मा महावीर की कृपा से अब स्त्रियों को भी आत्म-शक्ति का बोध हो गया है। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी आत्मोन्नति करने का अधिकार है। इसलिये मैं जाती हूं। जितने दिन हो सका आपकी सेवा की; अब कुछ दिन आत्मा की सेवा करूँगी।

—आपकी भूतपूर्व पत्नी।

चण्डप्रद्योत पत्र पढ़कर सिर पीटने लगा।

दोई दीन से गये पांडे। हलुवा मिले न मांडे॥

जमालि

(१) म. महावीर और जमालि

जमालि--भगवन्, आपने कल के आये हुए साधुओं को केवली घोषित कर दिया और मुझ सरीखे दीर्घ-तपस्वी और अपने जमाई को आपने अभी तक केवली घोषित नहीं किया। आपका यह विचार मुझे उचित नहीं मालूम होता। अब आप मुझे केवली घोषित कर दीजिये!

म. महावीर--जमालि, केवली होने का सम्बन्ध आत्म-विकास से है--मेरी नातेदारी से नहीं।

जमालि--तो केवली होने के लिये अब मुझ में क्या कमी है?

म. महावीर--केवली कहलाने के लिये तुम्हारी जो यह उत्सुकता है,--यही कमी क्या कम है?

जमालि--पर यह तो न्याय की माँग है।

म. महावीर--पर केवली दूसरे केवली के सामने खासकर अपने गुरु के सामने इस तरह माँग पेश नहीं करता।

जमालि--पर माँग न करूं तो क्या करूं? आपने मुझे कोई

चीज़ अपने आप दी है ! आपने गौतम की हज़ार बार प्रशंसा की, मेरी एक बार भी की ! आप उसे जब देखो तब पास बैठाने के लिये बुलाते हैं, मुझे एक बार भी बुलाया ! यश और सम्मान आप गौतम के ऊपर उँढ़ेलते रहते हैं, पर मुझे कभी पूछते भी हैं !

महावीर—गौतम जितने यश और सम्मान के योग्य है—वह उतना भी नहीं चाहता, इसलिये उतना मुझे ध्यान रखकर देना पड़ता है। पर, तुम्हें जितना मिलना चाहिये उतना या उससे कुछ अधिक तुम अपने आप ले लेते हो, तब बच ही क्या रहता है जो मैं तुम्हें दूं ! गौतम के हाथ में अगर सारी सत्ता आ जाय तो वह मेरा ही नहीं समस्त साधु-साध्वियों का भी सम्मान और यश सुरक्षित रक्खेगा और तुम्हारे हाथ में अगर वह सत्ता आ जाय तो तुम मेरी भी मर्यादा सुरक्षित न रख सकोगे। मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, पर तुम्हारे इस उथलेपन का संघ पर बुरा से बुरा प्रभाव पड़ सकता है—, इसकी चिन्ता अवश्य है।

जमालि—आपका मेरी योग्यता के तरफ़ ध्यान नहीं है। गौतम कोरा रट्टू मनुष्य है। वह आपके वचनों को रटकर संग्रह कर सकता है, जब कि मैं नव-निर्माण कर सकता हूं। मैं तार्किक और वक्ता तथा निर्माता हूं। गौतम की क्या योग्यता है कि आपने उसे मुख्य गणधर बना रक्खा है। अगर आप मुझे केवली घोषित नहीं कर सकते तो मुझे मुख्य गणधर बना दीजिये। मैं आपका निकट संबंधी हूं और योग्य भी हूं। आप मेरी अवहेलना न कीजिये।

महावीर—जमालि, जिसे तुम गौतम की अयोग्यता समझ रहे हो, वह उसकी अयोग्यता नहीं—संघ-सेवा है। कोई भी मनुष्य

अपना बगीचा किसी ऐसे माली के हाथ में नहीं सौंप सकता जो यह दावा करता हो कि मैं तुम्हारे झाड़ों को उखाड़कर नये झाड़ लगा दूंगा। ऐसा माली बगीचा नष्ट कर देगा। मैं अच्छी तरह जानता हूं जमालि, कि तुम दुनिया को वही चीज़ देना चाहते हो जिस पर तुम्हारे नाम की छाप लगी हो, फिर चाहे वह तुम्हारी हो या दूसरे की, सत्य हो या असत्य। गौतम दुनिया के सामने सत्य ले जाना चाहता है, अपना नाम नहीं। गौतम स्वयं एक महान विद्वान है, पर वह अपनी विद्वत्ता और तार्किकता का उपयोग मेरे व्याख्यानों के संग्रह में करता है, जिससे जो सत्य मैं जगत को देना चाहता हूं—वह मेरे बाद भी दुनिया को ज्यों का त्यों मिलता रहे। तुम उसे विकृत करके अपनी छाप लगाना चाहोगे, जिससे मेरे और तुम्हारे बाद न मूल बचेगा—न विकृत। जमालि! गणधर का पद अहंकार की सेवा से नहीं, दुनिया की सेवा से मिलेगा और केवली का पद पूर्ण वीतरागता से मिलेगा। केवली तो अपने लिये यश की भी पर्वाह नहीं करता। वह सर्व-प्रलोभनजयी यहां तक कि यशोजयी तक होता है।

जमालि—भगवन्, मैं आपका भानेज हूं और जमाई भी। फिर भी मैं साधारण थोड़े से मुनियों का आचार्य रहूं और गौतम सरीखे लोग मेरे ऊपर मुख्य गणधर रहें,—यह बात मुझे सहन नहीं हो सकती। ऐसी हालत में मैं आपके पास नहीं रह सकता। मैं दूसरी जगह जाकर धर्म का प्रचार करूंगा।

महावीर—जमालि, जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो। पर यह याद रक्खो कि मेरा कुटुम्ब असंख्य या अनंत मनुष्यों का होने

पर भी उसमें भानेज जमाई साले ससुर आदि को कोई स्थान नहीं है। वीतरागता या अहिंसा ही मेरी माता है, सद्बोध सम्यक्त्व या सत्य ही मेरा पिता है, संसार की भलाई करने के लिये अपने द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार तीर्थों की स्थापना करने-वाले जो अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं—वे मेरे बड़े भाई हैं, आगे जो ऐसे ही तीर्थंकर होंगे—वे मेरे छोटे भाई हैं। जो मेरे अनुयायी हैं—वे ही मेरे बेटे और बेटियाँ हैं। जमालि, इससे अधिक नातेदारी मेरी किसी से नहीं है। प्रियदर्शना अनुयायी की अपेक्षा मेरी बेटी है, तुम मेरे बेटे हो। पुरानी नातेदारी और जाति-मद कुल-मद आदि को छोड़कर ही तुम्हें सदा विचार करना चाहिये।

जमालि—भगवन्, अगर आप अपने आदमियों के विषय में इस तरह लापर्वाही करेंगे तो एक दिन आपके संघ में कोई न रह जायगा। गौतम सरीखे दस पाँच-ब्राह्मण ही रह जायँगे।

म. महावीर—मेरे श्रमण बन जाने के बाद न तुम क्षत्रिय रहे हो, न गौतम ब्राह्मण। अब तो सब मनुष्य हो गये हैं। मैं समझ गया हूं कि तुम्हारा संकेत ब्राह्मणों के वर्चस्व पर है। तुम यह अच्छी तरह समझ रक्खो कि गौतम का वर्चस्व ब्राह्मणों का वर्चस्व नहीं है। गौतम के ब्राह्मणमद का एक एक परमाणु धुल-कर बह गया है। इसलिये तुम मेरे हो और गौतम पराया है—यह भ्रम मेरे मन में ज़रा भी नहीं है।

जमालि—पर मैं कहता हूं कि ये सब एक न एक दिन आपका साथ छोड़ जायँगे और आप अकेले रह जावेंगे।

म. महावीर—कौन साथ छोड़ जायगा?—यह मैं समझता

जमालि—उनका अहंकार-पूर्ण वक्तव्य ही उनके इस दोष को प्रगट कर देता है।

गौतम—ऐसी अहंकार-पूर्ण बात क्या है?

जमालि—वे कहते हैं, मैं अकेला ही सन्तुष्ट हूँ, जिसको मेरा साथ देना हो दे, न देना हो—न दे। क्या यह हमारा-आपका अपमान नहीं है?

गौतम—तो क्या तुम भगवान के ऊपर दया करके भगवान का साथ दे रहे हो? भगवान के ज्ञान से और भगवान के जीवन से तुम कुछ लाभ उठा सकते हो तो तुम भगवान के अनुयायी बनो। भगवान की कृपा से लाभ उठाओ। नहीं तो जो चाहे करो, भगवान से क्या मतलब?

जमालि—पर सबकी भी कुछ सुनना चाहिये।

गौतम—वे सभी की सुनते हैं। पर यह भूल न जाना चाहिये कि हम सुनाने और कराने के लिये नहीं; सुनने और करने के लिये आये हैं। भगवान अगर सबकी सलाह की बाट देखा करें तो दुनिया में मिथ्यात्वी बहुत हैं, उनकी सलाह से सम्यक्त्व छोड़ देना पड़ेगा। सत्य की खोज पंचायती ढंग से नहीं होती। क्रान्तिकार जन-मत की पर्वाह नहीं करता, वह जन-हित की पर्वाह करता है।

जमालि—मैं क्या जन-हित नहीं चाहता!

गौतम—पर तुम्हारा जन-हित यही है कि जैसे लोग भगवान की पूजा करते हैं—तुम्हारी भी करें, जैसे भगवान की बात मानते हैं—तुम्हारी भी मानें। तुम इस प्रकार कृतघ्न बनकर लोक-

कल्याण की नहीं अपने अहंकार की चिन्ता करके जन-हित का ढोंग करना चाहते हो।

जमालि--अगर मैं ऐसा चाहता हूं तो क्या बुरा करता हूं ? भगवान ने ही कहा है कि सब जीव समान हैं, उनमें ऊँच-नीच छोटे-बड़े का भेद नहीं है। फिर भगवान क्यों इस प्रकार बड़े बन रहे हैं ? क्यों वे लोगों से वंदना कराते हैं ? हम तुम भी निर्ग्रंथ हैं, जितना भगवान का अधिकार है—उतना हमारा भी है।

गौतम--निश्चय दृष्टि से सब जीव समान हैं—यह भगवान का कहना बिलकुल ठीक है। धर्म करने का अधिकार भी सभी को बराबर है। पर सर्वथा एकान्ती बन जाने से अंधेर मच जायगा; क्योंकि पापी और धर्मात्मा एक सरीखे हो जायँगे। फिर पापियों-असंमियों के उद्धार के लिये प्रयत्न करने की ज़रूरत ही क्या रहेगी ? रही हमारी-तुम्हारी निर्ग्रंथता की बात, सो यह सुनकर पहिले तो मुझे हँसी ही आती है। क्योंकि, तुम्हारी निर्ग्रंथता (!) तो इसी से मालूम होती है कि तुम कृतघ्न बनकर सिर्फ नेता कहलाने के लिये अपने उपकारी और योग्य गुरु की अवहेलना करके उनकी निंदा के लिये बेचैन बने हुए हो। जमालि, ज़रा तुम सोचो तो, जो थोड़ी-बहुत नाम-मात्र की निर्ग्रंथता या सचाई हमारे तुम्हारे पास है—वह किसने दी है और इसे खोजने के लिये उसने कितनी तपस्या और कितना त्याग किया है ! हमको तो बने बनाये मार्ग पर चलना है, पर जिसने इस घोर अटवी के भीतर ऐसे मार्ग का निर्माण किया है—उसके व्यक्तित्व की बराबरी हम तुम सरीखे हजारों निर्ग्रंथ मिलकर भी नहीं कर सकते। रोगी की चिकित्सा के लिये

सुवेष का मत ही सर्वोत्कृष्ट है। गाँव-वालों का बहुमत नहीं। ऐसी हालत में उस सुवेष का सन्मान हो तो इसमें आश्चर्य, खेद या अनर्थ की क्या बात है? हम-आप भगवान की आज पूजा कर रहे हैं; पर जब उन पर मार पड़ती थी, गालियाँ मिलती थीं और कठोर से कठोर उपसर्ग होते थे—उस समय हम-तुम कहां थे? फिर भगवान की पूजा से भगवान का क्या लाभ है? इससे तो उनकी निराकुलता में ही थोड़ी-बहुत बाधा पहुँच सकती है। लाभ तो हमारा ही है। एक भक्ति-पात्र हमारे सामने है तो हम भीतरी और बाहरी संकटों में सनाथता का अनुभव करते हैं, निर्भय रहकर आगे बढ़ सकते हैं। अन्यथा, मेरे पतन को तुम नहीं रोक सकते, तुम्हारे पतन को मैं नहीं रोक सकता। रोकें तो हमारा अभिमान जाग्रत हो जाय। इसलिये जिसकी कृपा से हम में मनुष्यता आई, सत्य के दर्शन हुए और जो आज भी हमारी ज्ञान-चरित्र संबंधी पूँजी का आधार है, उसकी पूजा करना उसके लिये नहीं—अपने लिये हितकारी है। मैं तुम से विनय-पूर्वक कहता हूं कि तुम इस ईर्ष्या और कृतघ्नता को छोड़ो।

जमालि—ठीक है गौतम, तुम व्यक्ति के दास बन गये हो। पर मैं कह चुका हूं कि मैं व्यक्ति का दास नहीं बनना चाहता, मैं सत्य का प्रचारक बनना चाहता हूं।

गौतम—पर भगवान की पूजा सत्य की पूजा है—व्यक्ति की पूजा नहीं। क्या लोग भगवान को इसलिये पूजते हैं कि वे राजपुत्र हैं, अमुक के पुत्र हैं, उनका नाम महावीर है? भगवान के त्याग, तप, ज्ञान, विश्व-सेवा के कारण ही भगवान की पूजा की

जाती है, इसलिये वह इन गुणों की ही पूजा हुई; किसी व्यक्ति की नहीं। भगवान का पद कुछ पैतृक नहीं है कि वह गुणागुण का विचार किये बिना अमुक का बेटा होने से मिल गया हो, इसलिये भगवान की पूजा गुण-पूजा ही है। तुम प्रचार करो, पर इस प्रकार कृतघ्न और अहंकारी बनकर नहीं। भगवान के सिद्धांतों में ऐसी क्या बात तुमने देखी कि तुम उनके विरुद्ध प्रचार करना चाहते हो!

जमालि—मैं विरुद्ध प्रचार नहीं करना चाहता; परन्तु उन्हीं विचारों या सिद्धांतों का प्रचार करना चाहता हूं, जिनका प्रचार भगवान ने किया है।

गौतम—इसका मतलब यह है कि तुम अपने नाम से भगवान के सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते हो। तुम्हारी यह 'कृतघ्नता' चोरी और अहंकार तो है ही, साथ ही सत्य की अवहेलना भी है। तुम अहंकार की वेदी पर सत्य-प्रचार का भी बलिदान कर रहे हो। पर याद रक्खो, आदि-श्रोत को तोड़ने से तुम अपने जीवन को ही मोघ (व्यर्थ) बना डालोगे!

जमालि—गौतम, सत्य का आदि-श्रोत कहां से आया, इसके जानने की जरूरत नहीं है और हो तो उसका ठेका महावीर स्वामी ने नहीं लिया है—वह अनादि है और सब जगह है।

गौतम—सत्य अनादि है और सब जगह है, पर असत्य से भरे हुए संसार में सत्य को अलग पहिचान लेना और उसे जीवन में उतारना कठिन है। भगवान के सम्पर्क में आने के पहिले भी जगत में सत्य था, पर हम उसे क्यों न पा सके! असत्य

में क्यों पड़े रहे ? जहां पानी की बूँद भी दुर्लभ हो, वहां कोई आदमी ज़मीन खोदकर स्वच्छ जल निकाले और जगत् को पिलावे तो उसका यह उपकार इसीलिये नष्ट न हो जावेगा कि 'पानी तो प्राकृतिक है और पहिले भी लोगों ने पानी पिलाया है, तूने क्या नया किया है ।' भाई, धर्म तो प्राकृतिक है और जगत् में भरा पड़ा है, पर तीर्थ के बिना हम उसे पा नहीं सकते । तीर्थ बनाया जाता है, इसलिये तीर्थंकर का उपकार नहीं भुलाया जा सकता ।

जमालि--यह ठीक है कि तीर्थंकर उपकारी हैं, पर उनका सत्य जगत् के पास किसी भी तरह पहुँचे--इसमें उनकी क्या हानि है ? सत्य तो सत्य है--वह असत्य नहीं हो सकता ।

गौतम--दुग्ध तो दुग्ध है--वह अदुग्ध नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता । कड़वी तूमड़ी में रखने से वह कड़ुआ और अपेय हो सकता है, खटाई भरे बर्तन में रखने से वह दही हो सकता है । जगत में वचन की क़ीमत वक्ता की बहुत अपेक्षा रखती है । ख़ासकर धर्म सरीखी जीवन-व्यापी सूक्ष्म वस्तु में तो इसकी विशेष आवश्यकता है । जिस आदमी ने प्रकृति को पढ़कर अनुभव से तत्व को समझा है उसके वाक्य का मूल्य उधार लिये ज्ञान-वाले की अपेक्षा असंख्य गुणा है । भगवान के शब्दों की जो क़ीमत हो सकती है--वह हमारे तुम्हारे शब्दों की नहीं । तब तुम अपनी छाप लगाकर भगवान के उपदेशों का प्रचार करो, तो वह सोने पर पीतल चढ़ाकर बाज़ार में बेचना है ।

जमालि--पर इस तरह एक व्यक्ति को केन्द्र बनाने से गुरुवाद का प्रचार होता है और मानसिक दासता आती है ।

व्यक्ति सीमित है, इसलिये उसकी संस्था भी सीमित रहेगी। बहुत से लोग व्यक्ति के सामने झुकने को तैयार नहीं होते, इसलिये वे संस्था को नहीं अपनाते। अगर व्यक्ति न हो तो संस्था अपौरुषेय हो जाय, वेद में किसी एक व्यक्ति की प्रधानता न होने से वेद अपौरुषेय है। क्यों न महावीर का धर्म अपौरुषेय बना दिया जाय?

गौतम—जमालि, तुम्हारी ये बातें गहरी न होने पर भी चमत्कारी मालूम होती हैं। अगर इनके भीतर तुम्हारी ईर्ष्या और कृतघ्नता न होती तो इन पर काफ़ी विचार किया जा सकता था। अवश्य ही वे एक नय-रूप हो सकती हैं, पर तुम्हारा आशय तुच्छ है, इसलिये यह कथन ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें गम्भीर विचारणा भी नहीं है। मैं कुछ सूचनाएँ तुम्हें दे देना चाहता हूं —

(१) मूल में कोई ग्रंथ शास्त्र या संस्था अपौरुषेय नहीं होती। अपौरुषेय बनने के लिये युग ही नहीं, शताब्दियाँ लगतीं हैं। जन-समाज के लिये समय समय पर एक ही कोटि के सैकड़ों व्यक्ति जब प्रयत्न करते हैं—उन सबका संग्रह अपौरुषेय कहलाता है, क्योंकि उसमें पुरुष गौण हो जाता है। परन्तु उसका सामयिक रूप पौरुषेय ही रहता है। अगर स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव के अनुसार हमें कोई प्रयत्न करना हो तो वह पौरुषेय ही होगा। पौरुषेय को अपौरुषेय बना देने से उसमें आवश्यकता से अधिक पूर्णता और व्यापकता की छाप लग जाती है।

(२) अपौरुषेय, समझने की और विचार करने की चीज है—जीवन में उतारने की नहीं। अपौरुषेय में यह उत्तर नहीं मिलता कि 'आज तुम क्या करो' उसमें 'क्या करना चाहिये' सिर्फ इसका

ही सामान्य उत्तर मिलता है। रोगी तो यह जानना चाहता है कि 'मैं इस बीमारी में कौनसी औषध लूं'—यह काम सुवैद्य ही कर सकता है। सब रोगों का इलाज बतानेवाली वैद्यक की पोथी रोगी के हाथ में देने से रोग नहीं जाएगा। अपौरुषेय आगम साधारण जनता के लिये नहीं है, वह तो तीर्थंकरों के लिये खोज में सहायता देने-वाली वस्तु है। जनता के लिये तो पौरुषेय रूप ही हितकारी हो सकता है।

(३) किसी ग्रंथ या संस्था पर अपौरुषेयता की छाप लगने पर वह अपरिवर्तनीय हो जाती है। पुरुष का वाक्य स्वद्रव्यक्षेत्र-कालभाव के अनुसार बदला भी जा सकता है, पर अपौरुषेय द्रव्य-क्षेत्रकालभाव का विवेक नहीं कर सकता।

(४) अपौरुषेय, जगत के सामने बिना पुरुष के सहारे नहीं आता। विद्वान लोग अपनी बात का समर्थन कराने के लिये शब्दों के अर्थ की खींचातानी किया करते हैं। अनुभव-मूलक सत्य की परीक्षा तो साधारण जन भी कर सकता है, पर शब्द-मूलक सत्य की परीक्षा विद्वान भी नहीं कर सकते। इसलिये सत्य द्वन्द युद्ध की वस्तु बन जाता है—व्यवहार की नहीं।

(५) अपौरुषेय में शब्द-विषयक अन्धश्रद्धा पैदा होती है, इसलिये उसमें कभी विकृति हो जाय तो संशोधन अशक्य हो जाता है। संशोधन तो युक्ति और अनुभव के आधार से किया जाता है; किन्तु युक्ति अनुभव तो पौरुषेय है, अपौरुषेय उनपर ध्यान क्यों देने चला !

(६) अपौरुषेय की अपेक्षा पौरुषेय अधिक स्पष्ट होता है,

इसलिये वह अधिक आकर्षक अधिक श्रद्धास्पद और अधिक कल्याणकारी होता है। महावीर स्वामी ने जो कहा उसके मूल में उनका जीवन है, जीवन देखकर सिद्धान्त की व्यावहारिकता समझी जा सकती है। पौरुषेय में हम अपना एक अग्रगामी महात्मा पाते हैं, पर अपौरुषेय में वह दुर्लभ होता है।

इसलिये जमालि, अपौरुषेयता की दुहाई तो व्यर्थ है। रही गुरुवाद की बात, सो अपौरुषेय पौरुषेय में इसका कोई अन्तर नहीं है। अपौरुषेय में व्याख्याकार जो कि प्रायः एक शब्द-पंडित होता है—गुरु बनता है, और पौरुषेय में एक अनुभवी अर्थ-पंडित गुरु बनता है, इसलिये पौरुषेय पक्ष ही श्रेयस्कर है। असल बात यह है कि जहां मूढ़ता है—वहां गुरुवाद प्रत्येक अवस्था में आ ही जायगा। जहां विवेक है—वहां गुरु रहेगा, पर वहां गुरुवाद का डर नहीं है। हां, यह भी याद रखना चाहिये कि एक अनुभवी, निष्पक्ष विचारक और निःस्वार्थ सेवक के विचारों को स्वीकार करना गुरुवाद नहीं है। उसका सत्य-सन्देश जगत सुन सके—इसके लिये सम्मिलित प्रयत्न करना गुरुवाद नहीं है। गुरुवाद वहां है—जहां अन्धश्रद्धा और रूढि के वश में होकर, गुणागुण का विचार किये बिना किसी व्यक्ति की दासता की जाती है। महावीर स्वामी के अनुयायी होने में ऐसी कोई दासता नहीं है।

जमालि—दासता भले ही न हो पौरुषेय में लाभ भी अधिक हो, पर व्यक्ति के सीमित होने से संस्था भी सीमित रहती है।

गौतम—जमालि, संस्था एक व्यक्ति की छाया है, इसलिये

वह सीमित ही रहेगी। तभी तो जगत उसे देख सकेगा। असीम को जगत् कैसे देख सकेगा ?

जमालि—मेरा मतलब ऐसी असीमता से नहीं है। मेरा मतलब यह है कि सब लोग उसमें सम्मिलित हो सकें।

गौतम—अभी सब लोगों के सम्मिलित होने में क्या बाधा है ? ऊँच-नीच राजा-रंक आदि सभी शामिल हो सकते हैं।

जमालि—पर किसी किसी को अपना गौरव आड़े आता है, एक सम्राट् एक माण्डलिक राजकुमार को अपना गुरु कैसे बना सकता है ?

गौतम—जमालि, गौरव नहीं-अहंकार कहो। वह सम्राट् हो या सम्राटों का भी सम्राट्, अगर उसको भगवान के उपदेशों की ज़रूरत है, वह समझता है कि भगवान के उपदेश से मेरा और जगत् का उद्धार हो सकता है, तो उसे अपना घमंड छोड़कर शरण में आना चाहिये। शासक और महर्द्धिक की अपेक्षा जन-सेवक का पद महान है। भगवान महावीर स्वामी जगत्सेवक और जगत-हितैषी हैं, सम्राट् का व्यक्तित्व उनकी अपेक्षा हीन है, फिर भी जो यह समझता हो कि भगवान से मुझे कुछ नहीं मिल सकता, वह स्वतन्त्र रहकर अपना और जगत का उद्धार कर सकता है। भगवान ने अनेकान्त का सन्देश दिया है, अपने अपने द्रव्यक्षेत्र-कालभाव का विचार करने पर ज़ोर दिया है, इसलिये जिन्हें आवश्यकता न हो वे वीतरागता के साथ अपना स्वयं उद्धार करें। इसीलिये भगवान ने प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख किया है।

जमालि—फिर यह संघ-रचना क्यों ?

गौतम—इसीलिये कि जो व्यक्ति प्रत्येक-बुद्ध होने की योग्यता नहीं रखते—वे इस संगठित प्रयत्न से लाभ उठावें।

जमालि—गौतम, तुमने जो कुछ कहा—वह मैं सब समझता हूं। संघ-रचना आवश्यक है, पौरुषेयत्व ठीक है और भी सब बातें ठीक हैं। पर, यह सब निःपक्ष रूप में होना चाहिये। संघ में मेरे साथ बहुत अपमान का व्यवहार किया जाता है। चौदह हज़ार मुनियों में मुझे सिर्फ़ पांच-सौ मुनियों का आचार्य बना रक्खा है। भगवान जितना समझते हैं—उतना मैं भी समझता हूं, मैं अर्हत हो गया हूं, पर मुझे अर्हत घोषित नहीं किया जाता। तुम्हें तो इसलिये अर्हत घोषित नहीं करते कि तुमसे संघ-व्यवस्था का कार्य लेना है, तुम गणधर हो, पर मुझे तो न गणधर बनाया जाता है—न अर्हत घोषित किया जाता है। मैं कितना बड़ा राजकुमार था; फिर भी मैंने सपत्नीक दीक्षा की, साथ ही पंद्रह-सौ व्यक्तियों को और दीक्षित किया; पर तुम्हारे भगवान को इसका ज़रा भी विचार नहीं है। इसलिये मैं चला जाऊँगा और बता दूंगा कि तुम्हारे भगवान ने ही तीर्थंकर बनने का ठेका नहीं लिया है—मैं भी तीर्थंकर बन सकता हूं।——

(प्रस्थान—गौतम खिन्न होकर उसकी तरफ़ देखते रह जाते हैं।)

(२) प्रियदर्शना और जमालि

जमालि—अरे मिथ्यावादियो, जब संथारा लगा नहीं है तब तुमने कैसे कह दिया कि संथारा लग गया। मैं पित्तज्वर से पीड़ित हूं और तुम लोग झूठ बोलकर इस तरह मुझे ठगते हो !

मुनि—बस पल भर की देर है, संथारा हुआ ही समझिये !

जमालि—जब पलभर की देर है तब संथारा हुआ कैसे समझा जाय ? तुम लोग मिथ्यावादी हो, ठग हो।

मुनि—आप हमें मिथ्यावादी क्यों कहते हैं ? हमारे और आपके परमगुरु महावीर स्वामी भी ऐसे वचन को मिथ्या नहीं कहते। वे भी क्रियमाण को कृत कहने के व्यवहार को मानते हैं।

जमालि—पर महावीर स्वामी का यह कथन मिथ्या है।

मुनि—महावीर स्वामी तीर्थंकर हैं, अर्हंत है, सर्वज्ञ हैं, हमारे आपके गुरु हैं, उनके विषय में आप ऐसा क्यों कहते हैं ?

जमालि—सर्वज्ञ और तीर्थंकर हुए तो क्या हुआ ? क्या वे मिथ्या नहीं बोल सकते। बड़े आदमी भी गलती कर सकते हैं।

मुनि—पर, सर्वज्ञ की अपेक्षा असर्वज्ञ अधिक ग़लती कर सकता है।

जमालि—पर मैं भी सर्वज्ञ हो गया हूं, अर्हत हो गया हूं और अब तीर्थ-रचना करूंगा।

मुनि—आपको इस तरह विद्रोही न बनना चाहिये !

जमालि—इसमें विद्रोह की क्या बात है ? यह सत्यासत्य का प्रश्न है। क्रियमाण को कृत कहना—यह सरासर झूठ है।

(प्रियदर्शना का प्रवेश)

जमालि—पधारो आर्ये, देखो ये मुनि लोग अपने आचार्य की आसातना कर रहे हैं।

मुनि—जब ये हमारे और अपने सबके आचार्य श्री. महावीर स्वामी की आसातना कर रहे हैं, तब इनकी आसातना करना

तो इन्हीं का अनुकरण करना है।

प्रियदर्शना—मुझे समाचार मिला था कि आचार्य का ज्वर बहुत बढ़ गया है इसलिये देखने आई थी पर यहां यह झगड़ा देखकर मेरा चित्त खिन्न हो रहा है।

मुनि—आर्ये, पर इसमें हमारा कोई अपराध नहीं है। हम इनके लिये संथारा तैयार कर रहे थे इनने पूछा संथारा हो गया? आधे से अधिक हो गया था इसलिये हमने कह दिया कि हो गया। ये तुरंत ही आ गये और पलभर की देर न सहकर हम लोगों को मिथ्यावादी आदि कहने लगे।

प्रियदर्शना-पर ऐसे अवसर पर—जब कोई पित्तज्वर से पीड़ित है—पलभर की देर भी कैसे सह सकता है?

मुनि—पर परम गुरु महावीर स्वामी का यह कथन है कि क्रियमाण को कृत कहा जा सकता है।

प्रियदर्शना—पर अपने अपराध को छिपाने के लिये परम गुरु की दुहाई नहीं देना चाहिये थी।

जमालि—आज महावीर स्वामी के भी सिद्धान्त की परीक्षा हो गई कि वह मिथ्या है। एक दिन मैंने उनके पास दीक्षा ली थी। मैंने समझा था कि इनके पास पूर्ण सत्य है पर आज मालूम हुआ कि मैं बड़े भ्रम में था। अब मैं अपना भ्रम दूर कर देता हूं।

मुनि—ठीक है, आप अपना भ्रम दूर कीजिये। हम लोग महावीर स्वामी के पास ही जाते हैं।

[मुनियों का प्रस्थान]

जमालि—आर्ये, क्या तुम भी अपने पिता के पास जाती हो?

प्रियदर्शना—मेरे एक ओर पिता हैं, दूसरी ओर पति हैं पिता पुरानी चीज़ है और पति नई। इसलिये जगत में नारी को पिता की अपेक्षा पति महान है, इसलिये पितृ-मोह का अब कोई कारण नहीं रह गया है। फिर इस साधु-जीवन में तो पिता और पति दोनों ही पुराने हैं। अब तो मुझे सत्यासत्य का निर्णय करना है।

जमालि—सोच लो देवि, तुम्हारा पिता क्रियमाण को कृत कहता है और पति क्रियमाण को क्रियमाण और कृत को कृत कहता है। तुम्हारे पिता का सिद्धान्त जब व्यवहार में लाया जाता है, तब एक रोगी की परेशानी बढ़ जाती है। अब सत्य किस तरफ़ है? कल्याण किस तरफ़ है? विचार लो। तुम्हारे पिता से जब हम मामूली शब्दार्थ की सचाई की आशा नहीं कर सकते, तब अधिक की आशा क्या करें!

प्रियदर्शना—मैंने सोच लिया है आचार्य, कि सत्य आपकी तरफ़ है।

जमालि—तो जहां सत्य है-वहीं सर्वज्ञता है, जहां असत्य है-वहीं असर्वज्ञता है। अब सोच लो, सर्वज्ञ कौन है?

प्रियदर्शना—मैं मानती हूं कि आप सर्वज्ञ हैं।

जमालि—जब मैं सर्वज्ञ हूं तब मुझे सत्य के प्रचार के लिये तीर्थंकर भी बनना होगा। चतुर्विध संघ-रचना भी करना होगी। बहुत से मुनि चले गये, पर थोड़े-बहुत अभी हैं। इसलिये मेरा मुनि-संघ तो है ही। तुम्हारी कृपा से हज़ार आर्यिकाओं का आर्यिका-संघ भी है। थोड़े ही प्रयत्न से श्रावक और श्राविका-

संघ भी बन सकता है और मैं भी तीर्थंकर बन सकता हूं। महावीर ने मेरा बड़ा अपमान किया है। मैं उनका जमाई, पूर्ण विद्वान्, फिर भी मेरे बार-बार कहने पर भी मुझे गणधर न बनाया, न मुझे अर्हत् ही घोषित किया! इस अपमान का फल अब उन्हें चखना होगा।

प्रियदर्शना— पिताजी ने आपके साथ क्या व्यवहार किया है--इससे मुझे कोई मतलब नहीं। मैं तो सत्य की पुजारिणी हूं। सत्य आपकी तरफ़ है इसलिये मैं आपके साथ हूं। इसीलिये आपको सर्वज्ञ मानने को तैयार हूं--तीर्थंकर बनाने को तैयार हूं।

जमालि—बस तो मैं कृतकृत्य हो गया देवि, तुम्हारा कार्य एक आर्य-महिला के अनुरूप है। आज से तुम आर्या संघ की नायिका हो। अब तुम्हें उस चन्दना की अनुयायिनी बनकर रहने की कोई ज़रूरत नहीं है। देवी! आज मेरे जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। अब अपने को श्रावक श्राविका संघ बनाने की कोशिश करना चाहिये।

प्रियदर्शना—आप देखेंगे कि थोड़े ही दिनों में एक विशाल श्रावक श्राविका संघ तैयार हो गया है।

(४) ढंक और प्रियदर्शना

प्रियदर्शना—ढंक, देखो तुम्हारे प्रमाद से मेरी साड़ी जल गई।

ढंक—आर्ये, आप मिथ्या भाषण कर रही हैं।

प्रियदर्शना—प्रत्यक्ष में भी तुम मिथ्या भाषण का आरोप लगाते हो। क्या तुम देखते नहीं हो कि तुम्हारे सामने ही साड़ी जल रही है।

ढंक—हां, ऐसा कहिये कि साड़ी जल रही है । 'जल रही' को 'जल गई' कहना आप के सिद्धान्त के अनुसार ही मिथ्यात्व है—ऐसे ही मिथ्यात्व के कारण आप ने अपने पिता, परमोपकारी, प्राणिमात्र के हितैषी, जगद्गुरु महावीर स्वामी को असर्वज्ञ ठहराया है, उन का संघ छोड़ दिया है । भगवान ने अनेक नयों की अपेक्षा से शब्दार्थ का विविध रूप में विवेचन किया है, आपने उसे न समझ कर सच्चे गुरु की आसातना की और अपना जीवन नष्ट किया ।

(प्रियदर्शना थोड़ी देर के लिये स्तब्ध रह जाती है ।)

प्रियदर्शना—ढंक, ऐसा मालूम होता है कि मैं अन्धकार में पड़ गई थी और तुमने प्रकाश दिखाया है ।

ढंक—मेरी क्या योग्यता है आर्ये, यह सब आप के पिताजी का ही प्रताप है कि मुझ सरीखा पतित भी एक श्रावक है और वह दो शब्द बोल सकता है ।

प्रियदर्शना—तुम विवेकी हो, सम्यग्दृष्टि हो, तुम मेरे उपकारी हो, मिथ्यात्व के जाल में से तुम ने मुझे निकाला है । मैं पिताजी से इतने पास थी फिर भी उन्हें न पा सकी और तुम इतने दूर थे फिर भी पा सके । तुम कितने सौभाग्यशाली हो !

ढंक—कुटुम्बी, नाते-रिश्तेदार, परिचित, मित्र आदि किसी तीर्थंकर को मुश्किल से ही पाते हैं ।

प्रियदर्शना—सच कहा ढंक तुमने । मलयागिरि में रहनेवाली भिल्लिनी चन्दन का मूल्य नहीं जानती, वह उसे ईंधन की तरह जलाती है । पास में रहनेवाले लोग अवतारी पुरुषों को नहीं पहिचान पाते ।

ढंक—यह मेरा सौभाग्य है कि आप का भ्रम इतनी जल्दी

दूर हो गया।

प्रियदर्शना—मुझे अपने भ्रम पर आश्चर्य होता है ढंक, जिस सिद्धान्त को मैं दिन-रात व्यवहार में लाती हूं, सत्य समझती हूं, उसी सिद्धान्त का विरोध करने के लिये मैंने अपने पूज्य पिता और जगद्गुरु का विरोध किया। मुझे तो अब इस बात की भी लज्जा मालूम होती है कि मैंने कितनी छोटी-सी बात का बहाना बनाकर अर्हंत प्रभु की आसातना की।

ढंक—खैर, अब आप चिन्ता न करें। सुबह का भूला शाम तक ठिकाने लग जाय तो भूला हुआ नहीं कहलाता, फिर आप तो बहुत जल्दी ठिकाने लग गई हैं।

प्रियदर्शना—नहीं भाई, मैं अभी निश्चिन्त नहीं हो सकती। मैं अभी भगवान के शरण में जाऊंगी, आलोचन प्रतिक्रमण आदि हर तरह के प्रायश्चित्त से अपने पाप को दूर करूंगी।

ढंक—अवश्य ही आप कल प्रभु की सेवा में पहुंचने के लिये प्रस्थान कर दीजिये।

प्रियदर्शना—कल नहीं आज, अभी, इसी समय।

ढंक—पर अभी तो आप गोचरी न गई होंगी।

प्रियदर्शना—जब तक मैं भगवान की सेवा में पहुंचकर प्राय-श्चित्त न ले लूंगी, तब तक के लिये मेरे चारों प्रकार के आहार का त्याग है।

ढंक—पर भगवान तो यहां से बारह कोस दूर विराजमान हैं।

प्रियदर्शना—कितने भी दूर हों, मैं वहां पहुंचने के पहिले आहार ग्रहण न करूंगी।

[प्रस्थान]

ढंक—हे प्रभु, अन्त में तेरी ही विजय हुई, जो कि सत्य की विजय है।

(५) म० महावीर, गौतम और प्रियदर्शना

महावीर—गौतम, मैं कई दिनों से तुम्हें उदास देखता हूं।

गौतम—भगवन्, जमालि के विद्रोह को देखकर मेरा चित्त बेचैन रहता है और आर्या प्रियदर्शना ने भी जमालि का साथ दिया, यह देखकर तो रोना आता है। संघ की अगर अभी से यह दुर्दशा होने लगेगी तो आगे क्या दशा होगी!

महावीर—गौतम, सत्य के मार्ग में कभी किसी की दुर्दशा नहीं होती। सत्य-पथ का पथिक उपसर्ग और परिषह को तो कुछ गिनता ही नहीं है—बारह वर्ष के तपस्या-काल में मुझे इस का खूब अनुभव हुआ है—पर जब वह सत्य दुनिया को देना चाहता है और इस के लिये स्वाभाविक करुणा से प्रेरित होकर संघादि की व्यवस्था करता है तब जमालि सरीखी घटनाएँ होती ही रहती हैं। विरोध और उपेक्षा की चोटें उसे सहना ही पड़ती हैं, पर अगर वह वीत-राग है तो ऐसी घटनाओं की वह पर्वाह नहीं करता।

गौतम—प्रभु, आप महान् हैं। पर मैं इसलिये दुःखी होता हूं कि इतनी तपस्या, इतना त्याग, इतना विवेक और ज्ञान, इतनी परोपकारिता,—यह सब व्यर्थ क्यों जाती है?

महावीर—इस में व्यर्थता क्या है! मेरी सेवाओं से अगर जगत में कोई लाभ न उठावे सिर्फ़ एक आदमी भी लाभ उठावे तो मेरा जीवन लाभ में रहेगा। क्योंकि मेरी तपस्या ने मेरा उद्धार तो

कर ही दिया और उस से एक दूसरा व्यक्ति नफ़े में तर गया । यह क्या कम लाभ है ? इसलिये अगर जीवन में मैं एक भी आदमी का उद्धार कर सका तो अपने जीवन को नफा में समझूंगा । अगर सिर्फ़ अपने जीवन का उद्धार कर पाया तो नफ़ा में न समझूंगा, पर नुक-सान में भी न समझूंगा ।

गौतम- धन्य है प्रभु आपकी वीतरागता । पर इसी बात को उस दिन जमालि ने आप का अहंकार समझा था ।

महावीर- जिस ने कभी अपने जीवन में दृढ़ता का अनुभव नहीं किया—वह दृढ़ता को अहंकार के सिवाय और क्या समझेगा ? मनुष्य अपने अनुभव के आधार पर ही दूसरे के विषय में अंदाज़ बाँधा करता है । एक तीर्थंकर को जीवन में कितनी दृढ़ता आव-श्यक है, उस का अनुभव वह क्या करे ?

गौतम- जमालि का तो पतन यहां तक हुआ है कि उस दिन वह आप की इस तीर्थंकरता पर भी आक्षेप करता था । उस ने तो यही समझ लिया है कि तीर्थंकरता यानी पूजा कराना और उस का अनुयायी होना यानी पुजारी बनना ।

महावीर- भोला बालक ऐसा ही समझता है । एक वैद्य जब किसी रोगी के यहां चिकित्सा करता है तब रोगी के यहां उस को उच्चासन तथा आदर-पूजा प्राप्त होती है, पर एक बच्चा चिकित्सा के मर्म को न समझकर इतना ही समझता है कि वैद्य यानी आदर-पूजा कराने-वाला और चिकित्सा कराना यानी वैद्य की पूजा करना । बेचारा बालक वैद्य के और रोगी के गुरुभार को क्या समझे ? बल्कि वह तो यही सोचने लगता है कि रोगी का

हाथ तो मैं भी पकड़ सकता हूं फिर मुझे इतना आदर क्यों नहीं दिया जाता ! इसलिये वह मन ही मन रोगी की मूर्खता पर हँसता भी है।

गौतम– बिलकुल ठीक कहा भगवन् आप ने, जमालि की यही दशा है। आश्चर्य है भगवन्, जमालि आप का इतना निकट सम्बन्धी होकर भी आप को न समझा ! और तो और, पर आर्या प्रियदर्शना भी भ्रम में पड़ गई !

महावीर– इस में आश्चर्य की बात कुछ भी नहीं है, बल्कि यही स्वाभाविक है। जो वस्तु आँखों के बहुत पास आ जाती है वह ठीक दिखाई नहीं देती और जो बहुत दूर रहती है वह भी ठीक नहीं दिखाई देती। अच्छी तरह दिखने के लिये परिमित दूरी आवश्यक है। तुम बहुत दूर थे जब परिमित दूरी पर आये तब एक दूसरे को साफ़ दिख पड़े। यही हाल चन्दनबाला का हुआ। पर जमालि और प्रियदर्शना बहुत निकट थे, इसलिये वे मुझे न देख सके। **एकाध अपवादात्मक घटना को छोड़कर ज्ञातिजन, मित्रजन और कुटुम्बीजन किसी तीर्थंकर या जन-सेवक को नहीं पहिचान पाते।** इस के कई कारण हैं, उन में एक मुख्य कारण यह है कि जिस व्यक्ति को उन ने एक दिन साधारण रूप में देखा–उसे असाधारण रूप में देखने में उन्हें अपना अपमान मालूम होता है। उन के अन्तस्तल में छिपा हुआ यह अहंकार ही उन की आँखें बन्द कर देता है। परिचितों में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिन में इस प्रच्छन्न अहंकार की अपेक्षा भोलापन अधिक होता है। ऐसे लोगों में ईर्ष्या तो उतनी नहीं

होती जितना आश्चर्य होता है और वह आश्चर्य अविश्वास का रूप धारण कर लेता है, इस से वे तीर्थंकर और जन सेवक को नहीं देख पाते।

गौतम— भगवन्, इस का तो मुझे भी अनुभव है। कोई व्यक्ति त्याग, सेवा, गुण आदि में कितना भी हीन हो उस को लोग जितना महत्व देते हैं उस से शतांश भी महत्व उसे नहीं देते जो त्याग, सेवा, विवेक तथा अन्य गुणों में कई गुणा बढ़ा है—पर परिचित है। परिचित की ज़रा-ज़रा-सी चेष्टाओं में उन्हें अहंकार दिखाई देता है।

महावीर— इस का कारण वही है जो मैं तुम से कह चुका हूं। एक दिन जिसे बराबरी के रूप में देखा--वह हम से बढ़ गया, इस में अपना अपमान मालूम होता है। पर अपरिचित व्यक्ति के विषय में इस प्रकार की तुलना करने का अवसर नहीं मिलता, इस-लिये उस के अहंकार में भी योग्यता और विनय समझा जाता है। मतलब यह है कि मनुष्य में जो एक स्वाभाविक ईर्ष्या और अहंकार है उस से वह किसी को साधारण से असाधारण रूप में देखना पसन्द नहीं करता।

गौतम—कितना दुःखदाई और आश्चर्यजनक तथ्य है यह। मेरा यह कितना सौभाग्य है कि मैं पहिले से ही आप से परिचित नहीं था, अन्यथा सम्भव था कि जमालि सरीखा मेरा भी पतन होता और वर्तमान की अपेक्षा भविष्य के वे लोग और भी भाग्यशाली रहेंगे जो आप से और भी अपरिचित होंगे, किन्तु जिन को आप का सन्देश प्राप्त हुआ होगा।

महावीर-पर वे कुछ अधिक दूर हो जायँगे, इसलिये मुझे और मेरे तीर्थ को समझने में कुछ अतिश्रद्धालु बन जायँगे । मानव-स्वभाव के अनुसार वे भी साधारण को असाधारण रूप में देखना पसन्द न करेंगे । इसलिये वे अपने ईर्ष्या और अहंकार को दूसरे ही ढंग से शान्त करेंगे । वे यह बात पसन्द न करेंगे कि प्रारम्भ में जैसे वे थे--वैसा ही मैं था । वे तो मुझे जन्म से ही असाधारण रूप में चित्रित करेंगे । अगर उन्हें मानना पड़ेगा कि जैसे वे जमीन में छोटे थे--वैसा मैं भी छोटा था, जैसे बच्चों के साथ वे खेले थे--वैसा मैं भी खेला था, जैसे वे शाला में पढ़ने जाते थे--वैसा मैं भी जाता था । फिर भी, मैं महान् सेवक या तीर्थंकर बन गया, तो उन के अहं-कार को ऐसी ठेस लगेगी जिसे वे सहन न कर सकेंगे । इसलिये वे मेरे शैशव और बाल्यावस्था की साधारण घटनाओं को भी असाधा-रण बना देंगे । मैं बच्चों के साथ नहीं देवताओं के साथ खेला था, मैंने बच्चे को नहीं देवता को हराया था, मैंने सर्प को नहीं देवता को फेंका था, मेरा शरीर सहिष्णु ही नहीं वज्र का था,--इस प्रकार मेरे जीवन की साधारण घटनाओं को असाधारणता के रंग में रंगकर कहेंगे कि वे जन्म से असाधारण थे, इसलिये इतने बड़े बन गये । अगर हम जन्म से ऐसे असाधारण होते तो हम भी बन जाते । इस प्रकार वे अपने अहंकार को भी शान्त रख सकेंगे और मेरी भी पूजा कर सकेंगे । पर अकल्याण की बात यही है कि वे जितनी मेरी पूजा कर सकेंगे--उतनी सत्य की पूजा न कर सकेंगे । वे नर से नारायण बनने का पाठ न सीख सकेंगे । जो दूसरों को नर से नारायण बनते नहीं देख सकता, वह नर से नारायण बनने के मार्ग में नहीं चल सकता ।

गौतम—आश्चर्य है भगवन्, आप सर्वज्ञ हैं, आप त्रिकाल-दर्शी हैं, आप का ज्ञान अनन्त है, मुझे कई बार यह भ्रम हुआ है कि मैंने आप को समझ लिया है, आप के पास जो है—वह मैंने पा लिया है, पर समय समय पर ऐसे अवसर आते ही रहते हैं जब आप की अगाधता देखकर मैं चकित हो जाता हूं । आज भी चकित हो रहा हूं । आप के ज्ञातृजनों का कुटुम्बी और सम्बन्धियों का यह कितना दुर्भाग्य है कि वे आप के इस अनन्त ज्ञान से लाभ नहीं उठा सकते और दूसरों को भी नहीं उठाने देते । ऐसे लोग संघ में आकर संघ की बड़ी हानि करते हैं । भगवन्, मेरी ऐसी इच्छा है कि जो व्यक्ति संघ में आवे उस की ऐसी परीक्षा की जाय और शपथ करायी जाय कि वह जीवन भर संघ न छोड़े और संघ का विरोध न करे !

महावीर—शपथ कराने का कोई अर्थ नहीं है । जब अश्रद्धा या अरुचि हो जायगी तब वे शपथ तोड़ ही देंगे । अगर न तोड़ेंगे तो भीतर ही भीतर कोई दूसरे उत्पात करेंगे, इसलिये खुला दरबार ही अच्छा । जिस का जी चाहे आवे, न चाहे न आवे, जाना चाहे चला जावे । फिर भी ऐसे लोगों को नहीं लेना चाहिये जो किसी अनुचित स्वार्थ के वश में होकर यहां आते हैं ।

गौतम—ऐसे लोग संघ को बहुत हानि पहुँचाते हैं ।

महावीर—इस में क्या सन्देह, पर उसे सहन करना ही पड़ेगा । अपना काम जीवन भर जन-हित के कार्य में लगे रहने का है । फल की विशेष चिन्ता न करना चाहिये ।

गौतम— भगवन्, मैं आप की आज्ञा के अनुसार ही अपने मन को बनाने की चेष्टा करता हूँ, पर जगत का अन्धेर देखकर मन बेचैन हो जाता है। बहुत से लोग आप सरीखे सर्वस्व त्यागी, कर्म-योगी, विश्वहितैषी ज्ञानी की भी निन्दा करते हैं, छोटे छोटे व्यक्तियों को—स्वार्थियों को आप के समकक्ष समझते हैं, आप पर उपेक्षा करते हैं। यह अन्याय और यह अन्धेर नहीं देखा जाता। जगत में सत्य इतना पद दलित क्यों होता है?

महावीर— गौतम, तुम क्षेत्र पर ही दृष्टि मत रक्खो, काल को भी देखो। एक साधारण राजकर्मचारी भी गांव भर पर जितना आतंक जमा देता है--उतना एक महात्मा भी नहीं जमा सकता, पर समय बीतने पर कर्मचारी का नाम भी कोई नहीं जानता, उस के आतंक का तो पता भी नहीं रहता; जब कि महात्मा का सन्देश अमर होता है। महत्व की परीक्षा क्षेत्र से नहीं--काल से होती है। बहुत-से महात्मा काल की परीक्षा में भी कदाचित् अनुत्तीर्ण हो जायँ, पर वे आत्म-परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। यही उन का महत्व है।

गौतम-- प्रभु, जगत आप की विजय को देखे या न देखे, पर मैं तो आप की विजय को देख रहा हूं और अपना जीवन सफल बना रहा हूँ।

(प्रियदर्शना का प्रवेश)

गौतम— आर्ये, तुम कहां से आई?

प्रियदर्शना— (महावीर से) भगवन्, दुर्भाग्य से मुझे मिथ्यात्व ने अपने जाल में फँसा लिया था, पर श्रावक-शिरोमणि ढंक की

कृपा से मैंने अपनी भूल समझ ली है। अब मैं प्रायश्चित्त चाहती हूँ।

महावीर— बेटी, अपनी भूल का सच्चा ज्ञान ही प्रायश्चित्त है। तूने आलोचना की है। तू प्रतिक्रमण कर रही है--इस से प्रायश्चित्त हो गया।

प्रियदर्शना— नहीं भगवन्, मेरा अपराध महान् है, मैंने संघ को पूरी क्षति पहुँचाई है। एक हज़ार आर्यिकाओं को मार्ग से गिराया है, आप की पुत्री होने के गौरव का पूरा पूरा दुरुपयोग किया है, इसलिये मैं पूरा प्रायश्चित्त चाहती हूं जिस से मेरे पाप धुल जायँ।

गौतम— आर्ये, अब तुम भी प्रभु को 'भगवान' कहती हो! पहिले तो पिताजी कहती थीं! तुम ने यह प्रायश्चित्त ही तो नहीं किया है?

प्रियदर्शना—आचार्य, मैं अयोग्य हूं। मैंने भगवान को पिताजी कहने का गौरव पाया था, पर उसे सँभाल न सकी इसलिये अब मैंने उन्हें भगवान कहना ही उचित समझा है। और आप को भी अब मैं आचार्य कहा करूंगी। और आर्या चन्दना को पूज्य दृष्टि से देखूंगी, भगवान की पुत्री कहलाने योग्य वे ही हैं। मेरे अधीन जो एक हज़ार आर्यिकाएँ हैं--वे अब आर्या चन्दनादेवी की अधीनता में कर दूंगी। यह सब तो मैं इसलिये कर रही हूं कि मैं अयोग्य हूं। इस से मेरे अपराध का प्रायश्चित्त नहीं हो जाता।

महावीर—पर यह तो तूने आवश्यकता से अधिक प्रायश्चित्त कर लिया है।

प्रियदर्शना--नहीं भगवन्, मैं प्रायश्चित्त चाहती हूँ। और साथ ही एक भिक्षा भी चाहती हूँ।

महावीर--प्रायश्चित्त तो तू ले चुकी है, अब भिक्षा क्या चाहती है?

प्रियदर्शना--मेरे ऊपर आप की जो वात्सल्य दृष्टि पहिले थी, वही फिर चाहती हूँ।

(प्रियदर्शना की आँखों में आँसू आ जाते हैं और वह रोने लगती है)

महावीर--बेटी, मेरी वात्सल्य दृष्टि तो सारे संसार पर है, फिर तू तो प्रायश्चित्त करके पवित्रात्मा बन चुकी है। मुझे भगवान कहने की कोई ज़रूरत नहीं है, मुझ से तू पिताजी ही कहा कर। भगवान पिता से अधिक नहीं होता।

गौतम--[गद्गद् स्वर में] भगवन्, अन्त में सत्य की जय हुई और आशा से अधिक जल्दी, और अधिक हुई। प्रभु, अपनी इस अनन्त आशा में से थोड़ी-सी मुझे भी दे दो।

[गौतम की आँखों में आँसू आ जाते हैं, उन का सिर धीरे धीरे महावीर के आगे झुक जाता है]

कार्त्तिकेय

[१]

उस दिन राजसभा में बड़े बड़े विद्वानों का जमघट था। महाराज ने निमन्त्रण देकर दूर दूर के विद्वानों को बुलाया था। बड़े बड़े वेदपाठी ब्राह्मण, और सिद्धांतरहस्यज्ञ विद्वान् एकत्रित हुए थे। खबर थी कि आज महाराज सब विद्वानों के सामने एक गम्भीर प्रश्न रक्खेंगे, और उस पर विद्वानों का तर्क-वितर्क होगा।

महाराज आये। सब ने उठकर उन का अभिवादन किया। महाराज की उमर क़रीब बत्तीस-तेतीस वर्ष की थी। चेहरा गौर और भरा हुआ था, छाती विशाल थी। मस्तिष्क से बुद्धिमत्ता झलक रही थी। आँखों में भी तेज था परन्तु वह ऐसा शुद्ध न था जैसा कि चाहिये।

महाराज के एक तरफ़ प्रधान मंत्री बैठे थे। उन की नज़र महाराज की तरफ़ थी। ऐसा मालूम होता था कि वे महाराज के किसी इशारे की बाट देख रहे हैं। सभा में शान्ति थी। सभी सोच रहे थे कि, न मालूम कौन-सा प्रश्न है और कैसा प्रश्न है! विद्वानों को मन ही मन यह चिन्ता सता रही थी कि आज कहीं विद्वत्ता में दाग़ न लग जाय।

जब सभी लोग उत्सुकता के साथ आँखें फाड़-फाड़कर महाराज की ओर देख रहे थे तब महाराज ने प्रधान मंत्री को इशारा किया। इशारा पाते ही मन्त्री महोदय उठे और धीरे धीरे किन्तु गंभीर स्वर में बोलने लगे—

"आज महाराज ने एक गम्भीर प्रश्न पर विचार करने के लिये आप लोगों को कष्ट दिया है। यद्यपि महाराज साहिब ने और मैंने इस प्रश्न पर खूब विचार कर लिया है, फिर भी आप लोग विद्वान् हैं, आप लोगों के तर्क-वितर्क से जो बात तय होगी वह बिलकुल सत्य होगी। जो प्रश्न महाराज को और मुझे बहुत विकट मालूम होता है, सम्भव है वह आप को बहुत सरल मालूम हो, क्योंकि आप लोग विद्या-बुद्धि में बढ़े चढ़े हैं, जिस का कि हमें सदा भरोसा है।"

पंडितों ने जब अपनी प्रशंसा सुनी तो फूलकर कुप्पा हो गये। आपस में कहने लगे—वाह! कैसी विनय है। अजी, फूल झड़ते हैं! बड़े पद पर पहुँचकर भी लेश-मात्र घमंड नहीं है। जब इस प्रकार फुसफुसाहट फैली तो मंत्री महोदय एक मिनिट को चुप हो गये और उस ने अर्थपूर्ण दृष्टि से महाराज की तरफ़ देखा। महाराज ने अपनी आँखें और मुँह इस तरह मटकाया जैसे कोई किसी को शाबासी दे रहा हो। बाद में मंत्री महोदय ने फिर बोलना शुरू किया —

"महाराज आप लोगों से पहिले यह पूछना चाहते हैं कि कोई मनुष्य अगर किसी चीज़ को पैदा करता है तो उस चीज़ का पूरा मालिक वह मनुष्य है कि नहीं!"

प्रश्न सुनते ही प्रायः सभी विद्वानों के मुँह पर ईषद्धास्य की रेखा बिजली की तरह चमक गई। एक वृद्ध विद्वान् ने उठकर ज़रा मुसकराते हुए गम्भीरता से कहा—महाराज! आप सरीखे विद्या-प्रेमी नरेश को पाकर हम लोग सौभाग्यशाली हुए हैं। यद्यपि प्रश्न साधारण है लेकिन साधारण से साधारण बात भी आप विद्वानों की सलाह लेकर मानते हैं,—यह बात असाधारण है।

महाराज, इस में सन्देह नहीं कि उत्पन्न हुई वस्तु पर उत्पादक का पूर्ण अधिकार है। हम सब लोग इस बात को मानते हैं।

वृद्ध विद्वान् की बात सुनकर मन्त्री और महाराज ने इस तरह मुसकुरा दिया जैसे कोई व्याधा चिड़ियों को अपने जाल में फँसा हुआ देखकर मुसकुराता है। इस के बाद महाराज ने मन्त्री से कहा—प्रधानजी, आगे बढ़ो! मन्त्री फिर कुछ कहने को तैयार ही हुए थे कि एक तरफ से आवाज़ आई--"ठहरिये मुझे कुछ कहना है।"

अथ से इति तक सभी लोग चौंक पड़े। सब की नजर एक पतले और लम्बे कद के युवक की तरफ़ पड़ी। महाराज ने कहा—विद्वन्! क्या कहना चाहते हो? युवक विद्वान् बोला—"महाराज! उत्पादक होने से ही कोई किसी चीज का मालिक नहीं कहला सकता। यह नियम जड़ या जड़तुल्य पदार्थों के लिये ही बनाया जा सकता है, न कि चेतन पदार्थों के लिये। मनुष्य चेतन पदार्थों का संरक्षक हो सकता है, न कि मालिक।"

थोड़ी देर तक निस्तब्धता रही। इस के बाद वही विद्वान् ज़रा उत्तेजित होकर बोले—महाराज! यह कहना नहीं, विद्वत्समाज का अपमान करना है। दुःख की बात है कि आजकल ज़रा-ज़रा से लड़के मनमाने ढंग से बोला करते हैं। जिन्हें न तो कुछ अनुभव होता है, न विचार-शक्ति। मैं पूछता हूँ कि जड़ हो या चेतन, जो मनुष्य उसे पैदा करेगा--वह उस का मालिक क्यों न होगा? क्या मनुष्य, गाय भैंस आदि पशुओं का स्वामी नहीं है?

चारों तरफ़ से आवाज़ आई—'है, है।' वृद्ध विद्वान् का

मस्तक गर्व से उन्नत हो गया। वे बोलते गये कि—यह कैसा अन्धेर है! जो पैदा करे वह भी स्वामी नहीं! यह तो समाज और न्याय को उलट देने की बात है। ऐसे मनुष्य की तो बात भी न सुनना चाहिये।

युवक विद्वान् का चेहरा अपमान-जन्य क्रोध से तमतमा उठा, लेकिन उसने क्रोध को संयत करके कहा—'मैंने जो कुछ कहा है, सत्य के उद्योत के लिये और दुनियाँ की भलाई के लिये कहा है, अगर लोग मेरा कहना नहीं सुनना चाहते तो मुझे भी कोई गरज नहीं है।'

इस अप्रिय घटना के बाद महाराज का हृदय कुछ बेचैन हो गया। मन ही मन वे कुछ डरे भी। इसलिये सभा का सारा भार मन्त्री के ऊपर छोड़कर महाराज ने प्रस्थान कर दिया। सभा का काम फिर आगे बढ़ा।

मन्त्री महोदय बोले—'विज्ञ महाशयो! जब यह बात सत्य है कि उत्पन्न वस्तु पर उत्पादक का पूर्ण अधिकार है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि कन्या के ऊपर पिता का पूर्ण अधिकार है। इसीलिये वह कन्या का दान करता है। अगर पिता, कन्या का मालिक न होता तो उसे क्या अधिकार था कि वह कन्या का दान करे! जिस चीज़ के ऊपर पूर्ण मालिकी होती है—उसी चीज़ का दान किया जाता है। लेकिन साथ में यह बात भी है कि दान देना या न देना—अपनी इच्छा के ऊपर निर्भर है। दानी पुरुष प्रशंसा-पात्र है; परन्तु जो दान न दे सके वह निंदनीय नहीं कहा जा सकता।'

इस के बाद मंत्री महाशय कुछ रुके। फिर खाँस-खकार कर और गला साफ कर सारा मनोबल एकत्रित करके बोले—'आप लोगों को मालूम होगा कि महाराज की एक पुत्री है, जिस का नाम है रुचिरा। राजकुमारी की उम्र बारह वर्ष की हो चुकी है किन्तु महाराजा साहिब, अपनी पुत्री का दान नहीं करना चाहते। उन की इच्छा राजकुमारी के साथ स्वयं विवाह करने की है। मैं समझता हूँ कि आप लोगों के सिद्धान्तों के अनुसार इस में कोई अन्याय या अधर्म नहीं है; क्योंकि महाराजा साहिब का राजकुमारी पर पूर्ण अधिकार है और कन्या-दान शब्द से भी उन का अधिकार साबित होता है।'

मंत्री की बातें सुनकर सारी सभा इस तरह मुरझा गई मानो सब पर पाला पड़ गया हो। करीब पाँच मिनिट तक कोई न बोला। तब निस्तब्धता का भंग करते हुए पूर्वोक्त युवक विद्वान् ने कहा-'सज्जनो! जिस प्रश्न को आप लोग बहुत साधारण समझते थे-वही एक गंभीर प्रश्न निकला है। अगर जनता को कुछ विरोध न हो तो मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ।' पंडितों के मौन से जनता खीज गई थी, इसलिये उस ने वृद्ध विद्वान् के वचनों की पर्वाह न करके उच्च स्वर में कहा—"बोलिये! बोलिये!!"

वृद्ध विद्वान् और उन की मंडली मन ही मन जल-भुन कर रह गई। युवक विद्वान् ने कहा—"मंत्री महोदय! मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि उत्पादक, जड़ पदार्थों के ऊपर ही स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। चेतन, उस में भी समनस्क और उस में भी मनुष्य के ऊपर किसी का स्वामित्व नहीं है। धनधान्यादि परिग्रह के समान

स्त्री-जाति को सम्पत्ति समझना—मातृ-जाति का घोर अपमान करना है। क्या मैं पूँछ सकता हूँ कि जब कोई राजा गद्दी पर बैठता है और वह अपने पिता की सम्पत्ति का पति बनता है, तब क्या वह अपने पिता की स्त्री का भी पति बनता है? यदि नहीं, तो स्त्री जाति को सम्पत्ति कहने की धृष्टता कौन कर सकता है? जब वह किसी की सम्पत्ति नहीं तो उस का दान कौन कर सकता है! कन्या-दान को विवाह कहना मूर्खता है। असल में 'कन्या-वरण' या 'वर-वरण' विवाह है। कन्या अर्थात् दुल्हिन, वर अर्थात् दुल्हा को वरती है, इसलिये कन्या का विवाह होता है। और वर अर्थात् दुल्हा कन्या को वरता है, इसलिये वर का विवाह होता है। वर कन्या का परस्पर वरना अर्थात् दुल्हा-दुल्हिन का एक दूसरे को स्वीकार करना विवाह है। माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी तो उस विवाह के सिर्फ संयोजक हो सकते हैं। उन्हें स्वामी या अधिकारी समझना भूल है। इसलिये जब तक राजकुमारी कृत्तिका देवी स्वयं अपने पिता को पतिरूप से स्वीकार नहीं करतीं, तब तक महाराज को कोई अधिकार नहीं है कि वे राजकुमारी को अपनी पत्नी बनावें।"

युवक विद्वान् का ओजस्वी और युक्ति-पूर्ण भाषण सुनकर जनता प्रसन्न हो गई। इस किनारे से उस किनारे तक एक अस्पष्ट हर्ष-ध्वनि की लहर बह गई। परन्तु, पंडित-दल पर इस का अच्छा असर न हुआ। वह जल भुन गया; क्योंकि आज राजसभा में उन की इज्जत चली गई थी। युवक का वक्तव्य महाराज की इच्छा के विरुद्ध होने से मन्त्री भी मन ही मन भनभना रहा था।

उस ने अर्थ-पूर्ण दृष्टि से पंडित-दल पर नज़र डाली। पंडितों का तो इस से अमृताभिषेक हो गया। उन की जान में जान आई। हिम्मत करके वही वृद्ध-पंडित बोले—

"मंत्रिन्! इस लड़के ने जो कुछ कहा है वह बिलकुल शास्त्र-विरुद्ध है। अगर कन्या दान अनुचित होता तो यह शब्द ही कैसे पैदा होता? वर-कन्या का आपस में विवाह कर लेना तो व्यभिचार है। वह विवाह हो ही नहीं सकता। आजकल के लड़के ऐसे स्वच्छन्द हो गये हैं कि शास्त्रों की और वृद्ध पुरुषों की बिलकुल पर्वाह ही नहीं करते। जहाँ देखो वहां अक्ल से काम लेना चाहते हैं। अगर कन्या-दान अन्याय कहलायगा तो सर्वत्र स्वच्छन्दता का राज्य हो जायगा। मां-बाप की कोई इज्जत भी न रहेगी। फिर मां-बाप कन्या को पालेंगे ही क्यों?"

'क्या बलिदान करने के लिये कन्याएँ पाली जाती हैं?' गरजती हुई आवाज से किसी ने कहा।

वृद्ध पंडितजी का चेहरा तमतमा उठा। वे गर्जकर बोले—'रोकिये! रोकिये! इस उद्दंडता को रोकिये! राजा ही नीति के रक्षक होते हैं। जब राजसभा में ही विद्वानों का इस तरह अपमान होगा, जब ज़रा-ज़रा से लौंडे हम लोगों की पगड़ी उतारने लगेंगे, तब धर्म की रक्षा कैसे होगी? धर्म का सब से बड़ा रक्षक नरेश होता है। अहाहा! जब महाराज के पिताजी जीवित थे तब किस की ताकत थी कि धर्म-रक्षक विद्वानों का अपमान कर सके? किस की शक्ति थी कि शास्त्रों के विरुद्ध बोल सके? किस की हिम्मत थी कि अपनी मन-गढंत कह सके? किस का साहस था

जो अपनी अक्ल का नमूना दुनिया को दिखला सके !' यह कहते कहते वृद्ध पंडितजी की आँखों में आँसू आ गये। उन का गला रुँध गया। वे ज्याद: न बोल सके और बैठ गये।

मन्त्री ने पंडित-दल की ओर नज़र डालकर बड़े आदर-पूर्ण स्वर में कहा—'पंडितजी, स्वर्गीय महाराज का ज़माना अब भी है। किस की ताकत है जो आप सरीखे सर्वज्ञ विद्वानों की तरफ़ आँख उठाकर देख सके ! आप का शास्त्रगर्भित उपदेश आप को ही विजयी बनायगा। आप के वक्तव्य से यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि पिता को कन्या-दान का अधिकार है; क्योंकि वह पिता की सम्पत्ति है। ऐसी हालत में अगर महाराजा साहिब अपनी कन्या किसी को नहीं देना चाहते हैं और स्वयं विवाह करना चाहते हैं तो कोई हानि नहीं है। युवक विद्वान की बात निःसार है।' अन्तिम वाक्य ने सब फ़ैसला कर दिया। पंडित-दल बाँसों उछला।

[२]

इस घटना को बीस वर्ष हो गये। एक दिन राजमहल के आगे कुछ लड़के खेल रहे थे। श्रावण का महीना था। किसी के मामा ने किसी के नाना ने खिलौने भेजे थे, या किसी के माता-पिता ने ही ले दिये थे। आज प्रायः सभी लड़के कोई न कोई नया खिलौना लाये थे। एक लड़के के हाथ में बहुत सुन्दर रेशमी गेंद थी। गेंद को देखकर सब लड़कों का मन ललचाया। उनमें से एक बोला—

'यार ! तुम्हारी गेंद तो बड़ी अच्छी है।'

'रेशम से मढ़ी है।'

'कैसी बढ़िया है !'

'कहोजी, कहाँ से आई ! किसने दी !'

गेंदवाला लड़का मन ही मन फूल रहा था और सोच रहा था कि मेरे नानाजी बड़े अच्छे हैं । वह बोला–'मेरे नानाजी बड़े अच्छे हैं । वे मुझे प्यार करते हैं । उन्होंने यह गेंद भेजी है ।'

'तो खेलने के लिये भेजी होगी !'

'हाँ !'

'तो चलो खेलें ! खेल में बड़ा मजा आयगा ।' सब लड़के चिल्ला उठे–'हाँ ! हाँ !!' मजा ! मजा !'

एक छोटी-सी बालिका भी तालियाँ पीटकर बोल उठी–'मज़ा, मज़ा ।' परन्तु गेंदवाले लड़के को यह बात रुचिकर न हुई । वह बोला, हूँ ! खराब हो जायगी ।'

'तो क्या देखने के लिये है !'

'खेलना नहीं था तो लाये ही क्यों !'

'गेंदवाले लड़के ने सोचा, कहीं मेरी गेंद छिन न जावे, इसलिये उस ने गेंद पाकिट में रख ली और पाकिट को हाथ में पकड़ कर बोला–'नहीं दूंगा' । अभी तक देने-लेने की बात ही न थी । लेकिन बात जब निकली तो सभी लड़के चिल्ला उठे–'क्यों न दोगे !' परन्तु इसी समय इस समर-क्षेत्र में एक नये सैनिक का प्रवेश हुआ ।

एक पन्द्रह वर्ष का बालक जिस में सुन्दरता के साथ हृष्टपुष्टता और चञ्चलता के साथ गाम्भीर्य था, वहां आया । उसे देखकर सब लड़के शान्त हो गये । जिस की गेंद छुड़ायी जा रही थी वह

लड़का बोल उठा कुँवरजी, ये हमारी गेंद छीनते हैं । कुँवरजी कुछ बोलें, इस के पहिले ही एक लड़का बोल उठा—हम तो खेलने के लिये गेंद मांग रहे थे, छुड़ाते थोड़े ही थे । कुँवर ने कुछ न कह कर चुपचाप अपने पाकिट से एक सुन्दर गेंद निकाली और कहा कि--लो, इस से खेलो ।

'अहा ! क्या बढ़िया गेंद है !'

'उस से सौ गुणी अच्छी है.'

एक छोटा लड़का सोच रहा था कि अच्छी गेंदें सब के नाना ही दिया करते हैं, इसलिये व. उस लड़के से बोला जिस की गेंद छुड़ायी जा रही थी-'लो ! कुँवरजी के नाना तुम्हारे नाना से भी अच्छे हैं । उन की गेंद तेरी गेंद से सौ गुनी अच्छी ।' फिर उस ने कुँवर की तरफ मुड़कर कहा--क्यों कुंवरजी ! तुम्हारे नाना ने दी है न यह गेंद ?

लड़कों में जो सब से बड़ा और समझदार था उस ने उस छोटे लड़के को धमकाकर कहा- 'चुप' ऐसी बात मत कहना ।

'क्यों, इस में क्या बुराई है ?

उस का यह प्रश्न सुनकर सब लड़के अपने अपने मन की बात कहने लगे । एक बोला -'जब कुँवरजी के नाना नहीं हैं तब उन से नाना की बात क्यों पूछना' ?'

'क्यों ? क्या यह नहीं हैं !'

'नहीं रे ! उन के नाना हैं ही नहीं ।'

'वाह ! बिना नाना के भी क्या कोई हो सकता है ?'

'क्यों नहीं हो सकता ?'

' उन के बाप ही नाना हैं।

' तुम्हें नाना के साथ खेलना है या गेंद के साथ ?--यह कह-
कर उस बड़े लड़के ने एक लड़के का गेंद दे मारी । उस ने उठा-
कर तीसरे पर गोला छोड़ दिया । बस, उस समर-क्षेत्र में नाना की
जगह गेंद ने ले ली । गेंद-युद्ध मध्यान्ह पर जा पहुँचा, परन्तु कुंवर
वहां से टस से मस न हुए । वे आँखें फाड़ कर जमीन की तरफ़
देखते हुए इस तरह खड़े रहे जैसे कोई पत्थर की मूर्ति हो।

(२)

रानी ने अपने बाल्य-जीवन पर पर्दा डाल रक्खा था । राज-
महल में किसी की ताकत नहीं थी जो उस के बाल्यजीवन की चर्चा
मुँह पर ला सके । बड़ी बड़ी दासियाँ भी जिन्होंने रानी को इसी
घर में अपनी गोद में खिलाया था, कुछ न कह सकती थीं । श्रावण
के दिन थे । युवती दासियों को अपने पीहर के दिन याद आते थे ।
कदम की डाल पर झूला बांधकर झूलने की इच्छा होती थी ।
आपस में यह चर्चा भी करती थीं, परन्तु छिपकर । बाल्यकाल की
प्रत्येक बात पर्दे में ही होती थी । यह पर्दा-प्रथा रानी को ऐसी
ही मालूम होती थी जैसे कि कुरूपा स्त्री को घूंघट की प्रथा ।

ऐसी कौन माता होगी जिसे अपनी सन्तान से प्रेम न हो !
फिर माताओं को पुत्रियों से तो ज्यादः प्रेम होता है । परन्तु रानी
को अपनी पुत्री से विशेष प्रेम न था। यदि होगा भी तो किसी कारण
से उस ने प्रकट नहीं किया था । लड़की का कोई भी खेल रानी
को अच्छा न लगता था । वह चाहती थी कि मेरी बेटी खेले और
हँसे, परन्तु उसे हँसते-खेलते देखकर रानी की आँखों में आंसू

आ जाते थे। बालिका इस का रहस्य न समझती थी, परन्तु या तो वह स्वयं रोने लगती थी या हँसना खेलना बंद कर देती थी।

लड़की के बाद रानी के एक लड़का भी हुआ। रानी के हृदय का सन्तान प्रेम, जो कि हृदय में किसी तरह बंधा हुआ था, प्रवाह के जल की तरह बांध फोड़कर बह निकला। रानी की कुछ न चली। वह भी उसी प्रेम के प्रवाह में बह चली। वह माता बन गयी। उसे पुत्र, प्राणों से भी प्यारा मालूम होने लगा। लड़के को खिलाने हँसाने में उस का दिन बीतने लगा।

लड़की को भी वह ऐसा ही चाहती थी, परन्तु उसे देखते ही उस के हृदय में चिन्ता शोक और पश्चात्ताप का दौरा हो जाता था। उसे अपने बाल्यकाल की घटनाएँ याद आने लगती थीं। आँखों से आँसू निकल पड़ते थे। अब यह कौन कहे कि उस का पुत्री-वात्सल्य आँसुओं के रूप में ही बाहर निकलता था।

पुत्री ज्योंही चौदह वर्ष की हुई कि उस का विवाह कर दिया गया। अपनी निश्चिन्तता के लिये उस ने इस बाल-विवाह की कुछ भी पर्वाह न की। सचमुच इस से रानी को बहुत निश्चिन्तता हो गई। अब वह पुत्र-प्रेम में अपने अतीत की घटनाएँ भूलने लगी। वह पुत्र को जरा भी चिन्तित और दुःखी न देखना चाहती थी। उस की प्रसन्नता की एक एक अदा पर वह न्योछावर होने को तैयार थी।

उस दिन उस का लाल बड़ी देर तक न आया। भोजन का समय हुआ, वह निकल भी गया, परन्तु रानी का लाल न आया, रानी को खाना पीना हराम हो गया। दासियों से चिल्ला चिल्लाकर

कहने लगी—'मेरे कु को देखो !' बाहर भी खबर भेजी गई। परन्तु वहाँ से खबर आई कि बड़ी देर हुई कुँवरजी अंदर पहुँचे हैं। रानीने बिगड़ कर कहा—अरे तो कहाँ गया ? सभी दासियाँ भौंचकी-सी रह गई। इतने में एक दासीने कहा—अभी तो उस तरफ जाते हुए हमने देखा था। रानी उसी तरफ झपटी। उस तरफ कई कमरे थे। सभी पर बाहर से सांकल चढ़ी थी। सिर्फ एक कमरा—जिस की तरफ लोगों का आना जाना बहुत कम होता था—खटका था। रानी ने जल्दी जा कर उसी को थपथपाया। जोर लगाने पर मालूम हुआ कि भीतर से बंद है। रानी ने घबराई आवाज़ में कहा—'भीतर कौन है ?' परन्तु कुछ उत्तर न मिला। सब लोगों ने द्वार पर जोर लगाया। रानी ने कुछ रुंधे गले से कहा—'भैया कार्तिक'

अब की बार आवाज़ आई 'आई सें ...क्या कहती हो माँ ?' आवाज़ के साथ ही द्वार खुल गया। कुँवर ने रानी से कहा—'माँ ! मैं तुम्हारा भाई हूं। रानी का माथा ठनका। उस ने कहा 'इस का क्या मतलब ?

'मतलब यह कि हमारे तुम्हारे पिता एक ही हैं।'

अब रानी से न सहा गया। उसे चक्कर आ गया। वह जमीन पर गिर पड़ी। आज का जो पर्दा रानी ने बड़े यत्न से डाल रक्खा था, आज सहसा खुल गया।

(४)

दासियों ने इस समय वहां खड़े रहना मुनासिब न समझा। कमरे में माँ और बेटे के सिवाय कोई न रहा। रानी होश में थी।

रानी ने उसे पकड़ कर के कहा—'बेटा! जो हुआ अब वह वापिस नहीं हो सकता। अब इस दुखिया माँ को और क्यों दुखी करते हो?'

परन्तु कुँवर ने कुछ उत्तर न दिया। रानी ने बड़ी दीनता से कहा—'भूल जाओ मेरे लाल! पुरानी बातें भूल जाओ! मैं पापिनी हूँ तो तुम्हारी माँ हूँ और पिशाचिनी हूँ तो तुम्हारी माँ हूँ। माता का नाता अटूट और अपरिवर्तनीय होता है।'

कुँवर ने फिर भी मौन रखा। किसी अज्ञात भय से रानी का दिल दहल गया। उसे मालूम पड़ा कि कोई उस के लाल को छीनकर ले जाना चाहता है। उस ने झपटकर कुँवर को छाती से लगा लिया और अपनी कोमल भुजाओं से इतने ज़ोर से जकड़ लिया मानों किसी छीनने वाले के हाथ से कुँवर की रक्षा कर रही हो।

कुँवर को जकड़कर रानी खूब रोई। कुँवर भी रो रहा था। घृणा से उस का हृदय जल रहा था। साथ ही करुणा की वेदना भी असह्य थी। थोड़ी देर में जब दोनों के आँसू रुके, तब रानी ने कहा—'बेटा!'

'माँ!'

'तेरा क्या विचार है?' यह कहकर रानी फिर हिचक-हिचककर रोने लगी। कुँवर ने कहा—

'माँ! तुम रोओ मत। मैं तुम्हारा रोना नहीं देख सकता। तुम कैसी भी रहो, तुम्हारे विषय में आलोचना करने का मैं अपने को अधिकारी नहीं समझता। तुम मेरी माँ हो। फिर भी मैं इस घर में तो क्या, इस राज्य में भी नहीं रह सकता।'

"फिर मैं कैसे जीऊंगी ? यह कहकर रानी फिर जोर-जोर से रोने लगी। उसने दोनों हाथों से कुंवर को पकड़ लिया। कुंवर ने कहा—

"मां ! इस राज्य में हमारा तुम्हारा पवित्र सम्बन्ध भी कायम नहीं रह सकता।

"क्यों ?

"क्योंकि इस राज्य में नारी-जाति सम्पत्ति समझी जाती है। इस राज्य में पिता रक्षक नहीं स्वामी है। यहां पर पुरुष भोक्ता है, स्त्री भोग्य है। ऐसी हालत में पुरुष, नारी के साथ जैसा चाहे बर्ताव कर सकता है। वह उसे दान में दे सकता है, बेच सकता है। इस राज्य में पुत्रियों का विवाह नहीं होता, वे दान में दी जाती हैं। अगर दान देने के भाव न हों तो वे काम में आती जाती हैं। जहां कन्यादान की प्रथा है, वहां ऐसा करना गैरकानूनी नहीं कहा जा सकता। मां; तुम्हारे साथ जो व्यवहार हुआ सो हुआ, इस के पीछे मेरी बहिन का भी दान ही किया गया—उस का विवाह नहीं हुआ।

रानी ने कहा—"विवाह क्यों नहीं हुआ ?

कुंवर ने कहा—मां, बिना इच्छा के चाहे जिस के साथ बांध देना क्या विवाह है ? जब कोई किसी को गोदान करता है तब क्या गाय का विवाह कहलाता है ?

रानी इस का कुछ उत्तर न दे सकी। वह चुपचाप पैर के अंगूठे से जमीन खोदती रही। कुछ देर बाद कुंवर ने फिर कहा—

"मैं गर्त की अहिल्या के यहाँ गया था।" वह रानी है, परन्तु क्या सिंहासन के बराबर भी उसे हक है? क्या उसका रूप भी अधिकार है? यह दुख उसे चुपचाप इसीलिये सहना पड़ता है कि वह पिताजी की सम्पत्ति थी। उन्हें अधिकार था कि वे चाहें जिस को सौंप दें। जब नारियाँ दान की जा सकती हैं अपने काम में लाई जा सकती हैं तब बेची और खरीदी भी जा सकती हैं, अर्थात् नारी एक पशु है।

रानी ने फिर भी कुछ उत्तर न दिया। कुँवर कहता ही गया— माँ! जब नारी सम्पत्ति है, उस का कोई न कोई स्वामी है तब जिस प्रकार पिता के मरने पर उस का पुत्र पिता की अन्य सम्पत्ति का स्वामी होता है उसी प्रकार पिता की सम्पत्ति रूप उस की स्त्री का अर्थात् अपनी माता का भी स्वामी होगा। जिस राज्य में नारी जाति सम्पत्ति मानी जाती हो, उस का दान किया जाता हो, उस राज्य में जो अंधेर न हो वही थोड़ा है। माँ! ऐसे अंधेर राज्य में कैसे रहूँ!"

कुँवर की बात सुन कर रानी का हृदय तिलमिला गया। परन्तु कुँवर का कहना अप्रिय होने पर भी सत्य था। उस ने नारी जाति के पददलित हृदय को उत्तेजित किया था, उसे दासता की निद्रा से जगाया था। उस के कठोर शब्द में महिलाओं के महत्व का संगीत प्रवाहित हो रहा था।

रानी को अपने ही ऊपर घृणा होने लगी। इसलिये नहीं कि वह अपने ही पिताजी की पुत्री थी, किन्तु इसलिये कि वह मनुष्यों की सम्पत्ति है। वह गाय, बैलों की तरह किसी एक प्रकार का पशु

है । अब उसे भी इस राज्य में रहना पाप मालूम होने लगा । उस ने कहा—बेटा, जो तुम करोगे वही मैं करूंगी । यह राजमहल तो मुझे कारागार ही नहीं बरन नरक मालूम होता है ।

(५)

नदी से थोड़ी दूर एक छोटीसी पहाड़ी थी । उसके ऊपर एक मैदान था । मैदान लम्बा-चौड़ा था परन्तु भूतल से बहुत ऊँचा न था । पहिले यह मैदान यों ही पड़ा रहता था, परन्तु अब इस की हालत बदल गई थी । पहिले जो वहाँ पर एक कुँआ था वह बिलकुल अव्यवस्थित-सा पड़ा था । अब उसके चारों तरफ ऊँचा चबूतरा-सा बन गया था । उस पर छोटी-छोटी शिलाएँ बिछ गईं थीं । उसके चारों तरफ एक नाली बना दी गई थी । कुए से पानी निकालते समय जो पानी इधर उधर गिरता था वह इस नाली में से बहकर पास के पौधों में चला जाता था । लाइनबार कुछ पौधे लगे थे, जिससे वहाँ का दृश्य एक वाटिका सरीखा हो गया था । उस वाटिका के किनारे एक झोपड़ी थी । झोपड़ी में तीन कमरे थे । पहिला कमरा रसोई घर मालूम होता था; क्योंकि उस में एक तरफ चूल्हा रक्खा था, कुछ मिट्टी के बर्तन थे जिन में शायद कुछ अनाज होगा, मिट्टी के दो घड़ों में पानी भी था । कुछ धातु के बर्तन एक तरफ रक्खे थे । दूसरे कमरे में रानी रहती थी । कमरे में एक तरफ दीवाल से लगा हुआ एक मिट्टी का चबूतरा था जो पत्थरों से सटा था । दिन में यह बैठने के काम आता था और रात्रि में शय्या बन जाता था । थोड़े से कपड़े, एक तलवार, दो तीन ताड़-पत्र की पुस्तकों के सिवाय इस कमरे में और कुछ न था । तीसरा कमरा भी इसी तरह का था । इसमें एक मनुष्य और एक शरीर

-बर्तनों से भरा हुआ टँगा था । ये तीनों कमरे एक ही लाइन में थे इसलिये दूसरा कमरा बीच में आजाता था । इन कमरों के द्वार के आगे एक दालान था, जिस में तीनों दरवाजों के बीच में दीवाल से लगे हुए दो चबूतरे बने हुए थे, जो बैठने के काम आते थे ।

घर से निकलकर कई मास तक घूमकर कुँवर ने अपने रहने के लिये यही स्थान चुना था । अपनी माता के साथ रहते रहते उन्हें यहाँ आठ वर्ष हो गये थे । आसपास के ग्रामों के कृषक इन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ देखते थे । कुँवर ने भी यहाँ पर खेती करना शुरू कर दिया था । सबेरे स्नानादि से निवृत्त होकर वे अपने खेत में जाते, वहाँ से आस-पास के ग्रामों में चक्कर लगाते । किसी को सहायता की जरूरत होती तो सहायता करते । सब से क्षेम-कुशल के समाचार पूछकर लौट आते । भोजन करने के बाद माता के साथ बैठकर कुछ वार्तालाप या तत्वचर्चा करते, फिर खेत पर चले जाते । शाम को लौटकर भोजन करते । इस समय दो-चार कृषक आकर उन से गप-शप करते । आसपास ग्रामों में कहीं कोई छोटा-मोटा झगड़ा होता तो उसे ये ही निपटा देते । आज तक किसी ने इन का फैसला अमान्य नहीं किया । सब इन के वचनों को प्रमाण मानते थे । नौ-दस बजे रात तक यहीं चहल-पहल रहती । रानी भी इस में भाग लेती थी । इसी तरह शान्ति के साथ माँ-बेटे के दिन कट रहे थे ।

जिस समय कुँवर घर से निकले थे, उस समय एक बार उन के मन में साधु बनने के विचार पैदा हुए थे । लेकिन पीछे बहुत विचारने पर उन ने यही निश्चय किया, कि इस छोटी-सी अवस्था में

भी, समाज के ऊपर अपना निरर्थक बोझ डालना अच्छा नहीं। कुँवर के विचारों के अनुसार उसी मनुष्य को साधु बनने का अधिकार था—जिस ने युवावस्था में समाज की सेवा की है, और वृद्धावस्था में पेन्शन के तौर पर समाज के ऊपर हलका से हलका बोझ डालकर शरीर निर्वाह कर लेना चाहता है; अथवा जिस मनुष्य ने विशेष स्वार्थत्याग करके युवावस्था के प्रारम्भ में ही काफी समाज-सेवा कर ली है; अथवा जिस मनुष्य ने ज्ञान और चरित्र में असाधारणता प्राप्त कर ली है; और उस के बल पर जो अपनी आत्मोन्नति के साथ समाजोन्नति का कुछ ठोस काम करता रह सकता है। अगर कोई मनुष्य इन तीन श्रेणियों में से किसी श्रेणी में नहीं आता तो समाज पर बोझ डालकर उस का साधु बनना अन्याय है। कुँवर ने सोचा—मैं अभी किसी भी श्रेणी में नहीं आता। इसलिये दूसरी और तीसरी श्रेणी की योग्यता प्राप्त करने के लिये वे प्रयत्न करने लगे थे। इन आठ वर्षों के भीतर कुँवर ने अच्छी समाज-सेवा की थी। माता की सेवा करके गुरुओं का ऋण भी चुकाया था, शास्त्र-ज्ञान और अनुभव के बल पर पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था और साधु बनने के योग्य संयम का अभ्यास भी कर लिया था।

(६)

रानी का जीवन निरुद्देश था। अगर उसका कुछ उद्देश था भी, तो इतना ही कि अपने पुत्र के साथ प्रेम से रहना, यही जीवन उसे इतना अच्छा मालूम होता था कि वह अपने राज्यवैभव को बिलकुल भूल गई थी। उसे रानी कहलाने की अपेक्षा एक कुंवर-माता कहलाना अच्छा मालूम होता था। वह नहीं चाहती

थी कि उसका बेटा राजा बने, परन्तु यह जरूर चाहती थी कि वह विवाह कर ले। परन्तु इस विषय का प्रस्ताव वह पुत्र के सामने कभी रख न सकी।

अपनी पुत्री से उसने मनभर प्रेम न कर पाया था। अब वह उसकी कसर पुत्रवधू से निकालना चाहती थी। परन्तु पुत्रवधू मिले कैसे ? एक दिन अवसर पाकर उसने कुँवर से कहा—

'कुँवर ! जब तुम बाहर चले जाते हो तब मैं यहाँ बैठी बैठी ऊब जाती हूँ'।

'तो चलो माँ ! गाँव में रहने लगें। वहाँ पड़ोस की स्त्रियाँ तुम्हारे पास बैठा-उठा करेंगी'।

'परन्तु यह स्थान छोड़ने को जी नहीं चाहता। घर में कोई एकाध लड़की होती तो सब सुविधा हो जाती'।

'माँ ! अपन गरीब हैं, एक झोपड़ी में रहते हैं इसलिये बहिन को लाना तो ठीक नहीं हो सकता। जीजा का स्वभाव भी बहुत रूखा है, इसलिये वहाँ जाने को जी भी नहीं चाहता। अगर गया भी तो वे बहिन को इस झोंपड़ी में कभी न भेजेंगे। उनका इसमें अपमान है। चौथी बात यह है कि किसी भी बड़े आदमी से नाते-दारी लगाना मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। अब तुम्हीं बतलाओ माँ, मैं किसे बुला दूँ ?'

'बेटा ! तू अपना विवाह क्यों नहीं कर लेता ?'

कुँवर हँसे। परन्तु हँसी में न तो कोई उल्लास था, न शोक। केवल उपेक्षा थी। कुँवर ने कहा—

'माँ ! आजकल इतने बच्चे पैदा होते हैं, कि उन्हें पालने

वाले और पाल-पोसकर सच्चा मनुष्य बना देनेवाले नहीं मिलते। इसलिये अब और बच्चे पैदा करने की क्या जरूरत है? रही सांसारिक सुख की बात, सो जब तक मुझ से इन्द्रिय-दमन हो सकता है तब तक मैं विवाह करने की कोई जरूरत नहीं समझता। माँ! इस विषय में तुम से माफी माँगता हूँ।'

रानी ने हँसते कहा—हर बात में तुम तर्क ही चलाया करते हो। अच्छी बात है। जिस तरह तुम सुखी रहो। मुझे उसी में सुख है।

कुँवर के हृदय में कोई स्थायी चिन्ता न बैठ जाय इसलिये रानी ने हँसते हँसते ये बातें कही थीं। परन्तु वास्तव में उसका मुँह ही हँसा था, हृदय नहीं हँसा था।

दूसरे दिन से कुँवर ने अपनी दिनचर्या में परिवर्तन कर डाला। वे सबेरे से उठकर काम पर तथा लोगों की खबर लेने चले जाते थे और ग्यारह बजे लौटकर भोजन करते थे। रानी इस समय स्वाध्याय, ध्यान और रोटी-पानी करती थीं। भोजन के बाद दोनों ही बैठकर कुछ धर्म-चर्चा करते थे। कुँवर इधर उधर के समाचार भी सुनाते थे। दो-तीन बजे के बाद रानी फिर काम में लग जाती थी। इस समय कुँवर फिर काम पर जाते थे। इसका फल यह हुआ था कि रानी को फालतू समय में अकेला न बैठना पड़ता था।

रानी को इस से सुविधा तो हुई परन्तु हृदय की अशान्ति बढ़ गई। मेरे लिये ही कुँवर को इतनी तकलीफ उठानी पड़ती है, इस विचार से उस का हृदय धिक्कारने लगा। एक दिन उस ने कुँवर से कहा—

'कुँवर! मेरे लिये क्यों इतना कष्ट उठाते हो?'

कुँवर ने हँसते हँसते कहा— 'माँ! इस में कौनसा कष्ट है! दिनचर्या बदल देने में भी क्या कुछ कष्ट है?' फिर जरा विचार-कर कुछ हँसते हुए कहा—'माँ! अगर तुम्हारा थोड़ा बहुत ऋण चुकाऊँ तो तुम्हें क्या बुरा लगता है?'

'कैसा ऋण?'

'वाह! क्या यह भी कोई पूछने की बात है? पुत्र के ऊपर माता का कितना ऋण है, यह तो सभी जानते हैं। लेकिन तुम तो ऐसी माँ हो जिस ने पुत्र के लिये सर्वस्व खोया। राजपद को लात मारकर कृषक जीवन व्यतीत किया। मैं तुम्हारा ऋण तो क्या, उस का ब्याज भी नहीं चुका सकता हूं।'

'कुँवर! माता के हृदय की ये स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। माताएँ साहूकारी नहीं किया करती।'

कुँवर लज्जित हो गये। उन ने सोचा—मैं जो कुछ करता हूं ऋण या ब्याज चुकाने के लिये। परन्तु माता के उपकार में ब्याज या ऋण का हिसाब नहीं है। वह उस की स्वाभाविक वृत्ति है। कहाँ माँ और कहाँ मैं!

(७)

सन्ध्या का समय था। रसोई बन चुकी थी, परन्तु किसी कारण से कुँवर अभी तक नहीं आये थे। रानी की चिन्ता बढ़ रही थी। यद्यपि रानी जानती थी कि कुँवर किसी दुःखी के काम में ही लगे होंगे परन्तु वह माता थी—वह निश्चिन्त नहीं रह सकती थी। सूर्य अस्त हो गया, बादलों की ललाई भी मिट गई, परन्तु

कुँवर न आये। हल्का-सा अन्धकार चारों ओर फैल गया। इसी समय थोड़ी दूर पर एक आर्तध्वनि सुनाई दी। रानी चौंक उठी। उस ने देखा कि थोड़ी दूर पर एक लकड़हारिन चिल्ला रही है। लकड़ी का गट्ठा जमीन पर पड़ा है, उस का आठ-नव वर्ष का बालक उस के पैरों से लिपट गया है, और थोड़ी दूर पर एक चीता उन की तरफ घूर रहा है। रानी को समझने में देर लगी। परन्तु हाय! कुँवर इस समय घर पर नहीं थे।

रानी ने ज्यादः सोच-विचार नहीं किया। वह झपटकर कमरे के भीतर गई और तलवार उठाकर नीचे उतरी। चीता पास आ गया था। लकड़हारिन ने अपने लड़के को छाती के नीचे दबा लिया था। अपनी सूखी हड्डियों के शरीर का लड़के के चारों तरफ वितानसा तान दिया था। चीता लकड़हारिन के ऊपर झपटने-वाला ही था कि रानी ने एक लम्बी छलांग मारकर चीते के ऊपर तलवार का वार कर दिया। परन्तु वार पूरा न बैठा और रानी छलांग मारने से गिर पड़ी।

चीते ने लकड़हारिन को तो छोड़ा, परन्तु रानी के ऊपर आक्रमण किया। रानी की गर्दन पर चीते का पंजा जमकर बैठा। फिर भी रानी उठी, उठकर बैठ भी गई परन्तु उसी समय चीते ने पंजा वक्षःस्थल पर जमाया, जिस से वक्षःस्थल और पेट को चीर दिया। खून का प्रवाह छूटा। इसी अवस्था में चीते ने रानी को शिकार की तरह उठाया। परन्तु वह उठा भी न पाया था कि एक तीर ने उसे ढेर कर दिया।

कुँवर ने चीते को ढेर कर दिया, परन्तु रानी की अवस्था

देखकर घबरा गये। लकड़हारिन रो रही थी, परन्तु कुँवर के हृदय में ऐसा सन्ताप था कि उसके लिये उन के हृदय में आँसू बचे ही न थे।

(८)

रानी, अर्धमृतक अवस्था में पड़ी थी। कोठरी में कुँवर, दो तीन पुरुष और तीन-चार स्त्रियाँ थीं। कुटी के बाहर सेकड़ों स्त्री-पुरुष बैठे बैठे रो रहे थे। अभी तक रानी के मुँह से एक शब्द भी न निकला था। आधी रात के समय रानी ने आँखें खोलीं। कुछ देर तक कुँवर की तरफ देखती रही, फिर धीरे से बोली—'कुँवर तुम मेरे पीछे राजा से भिखारी हुए, मुझे क्षमा करना, और घर लौटकर राज्य सम्हालना।'

कुँवर का गला रुँध गया था। उन की आँखें आंसू बहा रही थीं। बड़ी मुश्किल से उन ने कहा—'मां! मैं भिखारी बना, परन्तु अपनी इच्छा से बना। मुझे इसी में सुख मालूम हुआ परंतु तुम्हें भिखारी की मां बनने में कौनसा सुख था! तुम्हें तो मेरे पीछे ही रानी से भिखारी की मां बनना पड़ा।'

'कुँवर! पुत्र होकर के भी तुम ने गुरु का काम किया है। तुम ने मुझे दासता की नींद से जगाया है। तुम ने जो मेरी सेवा की वह तो अच्छा, परन्तु तुम्हारे इसी काम से तुम ब्राह्मण हो गये हो।'

रानी ने ये बातें बड़ी मुश्किल से, एक एक शब्द पर ठहर-कर कह पाई थीं। इसके बाद रानी फिर अचेत हो गई और सदा के लिये सो गई। उस भीषण रात्रि में सेकड़ों कण्ठों से निकले हुए

करुण क्रन्दन से आकाश गूँज गया ।

दूसरे दिन हजारों आदमियों ने मिलकर रानी का अग्नि-संस्कार किया । उसी दिन शाम को कुँवर शौच को गये थे। परन्तु फिर वे नहीं लौटे । किसानों ने बहुत खोज की, परन्तु वे सफल न हुये ।

अब उस टेकरी पर एक मन्दिर बन गया है, जिसे लोग 'माँ बेटे का मन्दिर' कहते हैं । साल में वहाँ एक बार मेला भी लगता है । कहा जाता है कि अनेक लोगों को माताजी अब भी दर्शन दिया करती हैं और उस टेकरी के आसपास कोई जंगली जानवर नहीं आ पाता ।

(९)

'वत्स ! तुम सरीखा सत्पात्र पाकर मुझे बहुत प्रसन्नता होती है । तुमने किस वंश को सौभाग्यशाली बनाया है ?'

'महाराज ! मेरे पिताने अपनी ही कन्या के साथ शादी कर ली थी । उसी का फल मेरा यह शरीर है ।'

'हाय ! हाय !! तब तो मैं तुम्हें दीक्षा नहीं दे सकता ।'

'परन्तु यह कुकर्म मेरे पिता ने किया है । मैंने नहीं ।'

'कुछ भी हो । तुम्हारे दीक्षा लेने से धर्म डूब जायगा ।'

कुँवर ने कुछ न कहा, और दूसरी जगह प्रस्थान कर गये ।

(१०)

'वत्स ! तुम्हारा कहना ठीक है । अपराध तुम्हारे पिता का ही है । परन्तु लोग इस बात को नहीं समझते ।'

'तो उन्हें समझाना चाहिये ।' यदि समाज का अज्ञान है'

"क्या दुराचारी अपात्र नहीं है ?"

'दुराचारी तभी तक अपात्र है जब तक वह दुराचार में लीन है। दुराचार का त्याग करनेवाला व्यक्ति, या दुराचार से पैदा होने वाला व्यक्ति, अपात्र नहीं है।'

'क्या ऐसे लोगों के पास धर्म के चले जाने से धर्म की हँसी न होगी ?'

'यदि नीच से नीच व्यक्ति के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने पर भी सूर्य की हँसी नहीं होती तो महासूर्य के समान धर्म की हँसी क्यों होगी ?"

'कुँवर मन ही मन खुश हुए। जिस रत्न की खोज में वे आज तक फिर रहे थे, वह उन्हें मिल गया। माता के अवसान के बाद उनने सैकड़ों साधुवेषियों की खोज की थी। उनने सर्वज्ञ कहलाने वाले, वीतरागता का ढोंग करने वाले, अनेक जीव देखे थे। शिष्यों और भक्तों का ठाठ लगाने वाले, नाम के पीछे मरने वाले, दम्भी भी उन्हें मिले थे। अज्ञानता से या यश की इच्छा से भूखों मरने वाले या अनेक तरह के कायक्लेश सहने वाले पशु भी उन की नजर में आये थे। दुराचार के पुतले और व्यभिचारी मनुष्यों को उनने लोगों के द्वारा पुजते देखा था। साधु-वेष से ढके हुए धर्म ओढ़नेवाले मूर्ख जन्तु भी उन्हें मिले थे। सभी जनता के गुलाम थे। कोई पेटार्थू थे तो कोई नाम के भूखे थे। सत्य को ग्रहण करने की, या उसको प्रकाश में लाने की हिम्मत किसी में नहीं थी। परन्तु कुँवर को आज एक ऐसा गुरु मिला था जो सत्य का पुजारी था। संसार की भलाई करने वाला या उसकी भलाई चाहने

बांका था। वह संसार का गुलाम नहीं था। उसे जग की पर्वाह थी। लोगों के बकवाद की पर्वाह न थी।

कुँवर ने पूछा—'गुरुवर्य! मैंने ऐसा क्या किया था जिस से इस जन्म में मुझे पापी होना पड़ा?'

'वत्स! मैं समझता हूँ इस जन्म में तुम पापी नहीं बने। पाप करनेवाला पापी कहलाता है—पाप का फल भोगनेवाला पापी नहीं कहलाता। कष्ट और आपत्तियाँ पाप का ही फल है और सच्चे से सच्चे महात्मा के ऊपर भी आती हैं। क्या इसलिये वे पापी कहलाते हैं? अगर तुम्हारा जन्म तुम्हारे लिये कष्ट-प्रद हुआ तो वह पाप का फल कहा जायगा, न कि पाप।'

हर्ष के मारे कुँवर के शरीर पर काँटे आगये। उसने जिज्ञासा के भाव से पूछा—'गुरुवर्य! मैंने ऐसा क्या पाप किया था कि मुझे ऐसा जन्म मिला?'

'वत्स! मैं दम्भपूर्ण सर्वज्ञता नहीं मानता कि तुम्हारे परलोक की बात बतलाऊँ। परन्तु प्रकृति का नियम है कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। इसलिये यह बात निश्चित है कि तुमने अवश्य ही पूर्व जन्म में, जन्म का बहाना निकालकर, किसी मनुष्य के धार्मिक अधिकारों पर डाका डाला होगा। इसलिये तुम्हें इस जन्म में उसका फल भोगना पड़ा। जो लोग जन्म के बहाने उच्च-नीच, छूत-अछूत, पात्र-अपात्र की कल्पना करते हैं उन्हें अनेक तरह के बुरे जन्म मिलते हैं। तुम पूर्वजन्म में बहुत धर्मात्मा व्यक्ति थे किन्तु आवेश में आकर तुम्हारे मुँह से एकाध बार ऐसे शब्द निकल गये होंगे इसलिये तुम्हें ऐसा जन्म मिला। जो लोग बहुजा-

भक्त और छिपे हुए दुराचारी हैं । फिर भी जन्म का अहंकार रखते हैं या जो दूसरों को जन्म से नीचा गिनते रहते हैं और ऐसी ही बातों का प्रचार करते हैं, उनके पाप का क्या ठिकाना ?'

कुँवर की आँखों में आंसू आगये । यह कौन कह सकता है कि वे हर्ष के थे कि शोक के ? उनने प्रार्थना की—

'गुरुवर्य ! मैं ऐसे गुरु की खोज में था । सौभाग्य से मुझे आप सरीखे सद्गुरु की प्राप्ति हुई है । अब मैं मोक्षमार्ग में चलना चाहता हूँ । यदि आप मुझे साधु-दीक्षा दें तो बड़ी कृपा हो । क्या मैं इस दीक्षा के योग्य हूँ ?'

गुरुवर्य कुछ चिन्ता में पड़े । फिर बोले—'तुम योग्य हो, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु यह खयाल रक्खो कि अपने जीवन को दूसरों के सिर का बोझ बना देने से कोई साधु नहीं बनता । साधु आत्मोद्धार और परोपकार की अप्रतिम मूर्ति होता है ।'

'गुरुवर्य ! आप जो आज्ञा करेंगे उस का पालन मैं तन और वचन से ही नहीं, मन से भी करूंगा । आप बतलाइये कि मुझे साधु बनने के लिये क्या करना चाहिये और किस वेष में रहना चाहिये ?'

'साधु होने के लिये सब से बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि वह किसी से द्वेष और मोह न रक्खे और उस के हृदय में किसी भी कषाय की वासना एक मुहूर्त से अधिक न ठहरे । कषाय का आवेग कभी तीव्र न हो । रही वेष की बात, सो वेष कोई भी हो, चिन्ता नहीं । हाँ ! वह अल्पारम्भी होना चाहिये । वास्तव में वेष का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । वेष तो इसलिये रक्खा जाता है कि लोग साधारण पहिचान कर सकें । साधुता तो निःकषाय,

उदार, परोपकारमय, अप्रमत्त जीवन में है।'

कुँवर ने भक्ति से गद्गद् होकर साधुजी के चरणों में नमस्कार किया, ऐसा नमस्कार करने का कुँवर के जीवन में यह पहिला ही अवसर था।

(१२)

दो-तीन दिन में ही रोहेड़ नगर की कायापलट हो गई। लोगों में धर्म के नाम पर जो अन्धश्रद्धा थी, समाजहित के नाम पर जो रूढ़ि-प्रेम था, उच्चता के नाम पर जो जातिमद था, वह सब नष्ट हो गया। लोगों ने मनुष्यत्व का सम्मान करना सीखा। हरएक कार्य में बुद्धि और विवेक को स्थान मिला। अमावस्या के स्थान पर शरत्पूर्णिमा होगई। यह सब कार्तिकेय मुनि का प्रभाव था। मुनिराज के आने के पहिले यहाँ स्त्रियों की और शूद्रों की बड़ी दुर्दशा थी। शूद्रों का सम्पर्क करना, उन्हें धर्मायतनों में आने-जाने देना, स्त्रियों से सलाह लेना, पाप समझा जाता था। जिस दिन शाम को मुनिराज पधारे, उस दिन बाग में सैकड़ों आदमी थे। बाग के किनारे एक पक्का मण्डप-सा बना था, जहाँपर कि लोग बैठा करते थे। वहीं पर कार्तिकेय मुनि पहुँचे। इससे बाग में घूमनेवालों का ध्यान आकर्षित होगया। एक मुनि को देखकर जनता ने उन्हें घेर लिया। थोड़ी देर के लिये मुनिराज तमाशा बन गये।

बाग में कुछ पंडित भी विहार कर रहे थे। उनने जब मंडप को भीड़ से भरा हुआ देखा तो वे भी पहुँचे। वहाँ बिलकुल शान्ति थी। पंडितों के पहुँचते ही जनता ने रास्ता दे दिया। पुजित लोग मुनिराज के समीप पहुँचे और पूछा—

पंडित—आपका परिचय?

मुनि—मैं एक मुनि हूँ, यह तो आप देख ही रहे हैं। मेरा नाम [illegible] है।

पंडित—आपकी जाति?

मुनि—मुनियों के तो कोई व्यवहारिक जाति नहीं होती है। वे तो मनुष्य-जाति के होते हैं। मेरी जाति भी मनुष्य है।

पंडित—फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य में से कोई तो होंगे?

मुनि—कोई नहीं।

पंडित—तो क्या शूद्र?

मुनि—शूद्र भी नहीं।

पंडित लोग एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगे। उन की आँखें एक दूसरे से पूछ रहीं थीं कि यह कैसी विचित्र बात है। मुनिराज ने उनके आश्चर्य को समझकर कहा—जो लोग अध्यापन आदि कार्यों से अपनी आजीविका चलाते हैं वे ब्राह्मण हैं। जो लोग सैनिकवृत्ति से या प्रजा-रक्षण से आजीविका चलाते हैं वे क्षत्रिय हैं। जो लोग कृषि वाणिज्य आदि से आजीविका करते हैं वे वैश्य हैं, और जो लोग सेवा-चाकरी करके आजीविका करते हैं वे शूद्र हैं। मैं अब जीविका के क्षेत्र से बाहर निकल गया हूँ, इसलिये अब मनुष्य सिवाय अन्य किसी भी जाति का नहीं रहा हूँ। हाँ मुनि होने के पहिले मैं कृषक वैश्य बना था परन्तु मेरे माँ बाप क्षत्रिय थे।

इस उत्तर से पहेली और जटिल हो गई। एक पंडित ने कुछ उत्सुकता में आकर कहा—एक ही जन्म में क्या जाति भी बदल सकती है?

मुनि महाराज ने कहा—जब आजीविका का उपाय बदल सकता है तब जाति क्यों नहीं बदल सकती? शरीराश्रित, मनुष्यत्व, अश्वत्व आदि जातियाँ एक ही जन्म में नहीं बदल सकतीं, परन्तु आचाराश्रित भाषाश्रित आजीविकाश्रित जातियों का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध? ब्राह्मणादि आजीविकाश्रित जातियां हैं। आजीविका के बदल जाने पर इनका बदल जाना अनिवार्य है।

पंडित लोग कुछ खिसयाकर बोले—तब तो आप की दृष्टि में शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है? इस तरह तो सब एकाकार हो जायगा?

मुनिराज ने गम्भीरता से कहा— मान लो, एकाकार हो गया तो आप दूसरे की उन्नति में दुःखी क्यों होते हैं?

पंडित— परन्तु इसमें उन्नति क्या है? ब्राह्मण में और शूद्र में फिर भेद ही क्या रह जायगा?

मुनि— हाथ, पैर, कान, नाक आदि सभी बातें ब्राह्मण और शूद्र में समान पाई जाती हैं, फिर दोनों में अभी क्या भेद है?

पंडित— सदाचार दुराचार का।

मुनि— सो तो तब भी रहेगा। दुनियाँ से दुराचार का नाश न होगा। अगर हो भी जाय तो क्या बुरा है?

पंडित— परन्तु दुराचारी सदाचारी को एक-सा कर देना तो अच्छा नहीं कहा जा सकता।

मुनि— यह ठीक है परन्तु अगर दुराचारी सदाचारी बन जायें तो क्या हानि है? शूद्र भी हिंसा के त्यागी होते हैं, सच भी बोलते हैं, अचौर्य पालन करते हैं, ब्रह्मचर्य से रहते हैं, त्याग

करते हैं। क्या तब भी वे उच्च नहीं हैं ? उच्चता का सम्बन्ध अगर आप शरीर की पवित्रता से मानते हो तो पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति आदि ही उच्च कहलायेंगे। हाड़ मांस से बना हुआ मनुष्य शरीर उच्च न कहलायगा। अगर आत्मा की पवित्रता से उच्चता का सम्बन्ध है तब तो शूद्र भी उच्च हो सकता है। जब तुम ब्राह्मण कुलोत्पन्न दुराचारी को भी उच्च कहते हो और शूद्रकुलोत्पन्न सदाचारी को भी नीच कहते हो तब क्या तुम सदाचार का अपमान और दुराचार का सम्मान नहीं करते हो ? सदाचार को सरलता से प्राप्त करने के लिये कुछ एक साधन हैं। परन्तु अगर किसी ने किसी तरह सदाचार प्राप्त कर लिया है तब किसी एक साधन के न रहने पर भी क्या हानि है ?

पंडित लोग पसीने से भींग गये, अनेक लोगों के हृदय में तूफान-सा मच गया, बहुत से लोगों का बुखारसा उतर गया। बड़ी मुश्किल से एक पंडितजी बोले—आप बिलकुल शास्त्र-विरुद्ध बोलते हैं।

मुनिराज मुसकराये, फिर कुछ गम्भीरता से बोले—जो बात तर्क से सिद्ध होती है, जिस से समाज का कल्याण है, जिस से गिरे हुए लोगों का उद्धार होता है, जिससे मदरूपी ज्वर शान्त होता है, जो हर तरह सत्य है, क्या वह शास्त्र या धर्म से विरुद्ध हो सकती है ? सत्यता ही शास्त्र की और धर्म की कसौटी है। शास्त्र के विरुद्ध जाने से सत्य, असत्य नहीं होता, किन्तु सत्य के विरुद्ध जाने से शास्त्र कुशास्त्र, धर्म कुधर्म होजाता है। अगर कोई सच्ची बात धर्मशास्त्रों में नहीं लिखी है तो वह उस बात

का दुर्भाग्य नहीं है किन्तु यह धर्मशास्त्र का दुर्भाग्य है।

इस वार्तालाप से जनता की आँखें खुल गई वह प्रसन्नता से नाचने लगी। परन्तु पंडितों को तो ऐसा मुक्का लगा कि उनके पांडित्य का और अभिमान का कचूमर निकल आया।

दूसरे दिन सुधार का पवन ऐसा प्रबल होगया कि उसने पुराने से पुराने घूर भी उड़ा कर साफ कर दिये। पंडितों की तो मानों छाती छिन गई। उन्हें मालूम हुआ कि मुक्के की चोट, पेट पर भी जमकर बैठी है। वे मन ही मन कराहने लगे।

(१३)

रात्रि के आठ बजे थे। सजा हुआ कमरा था। महाराज ने सब सुन करके धीरे धीरे दाँत पीसे और कहा—'ठीक! मैं अभी देखता हूँ।' इसके बाद वे फिर चिन्ता में पड़ गये। आगंतुकों के दिल इस समय धुक धुक हो रहे थे। थोड़ी देर बाद महाराज ने कहा—'क्या सचमुच उस साधु ने ऊँच नीच, राजा प्रजा के भेद-भाव को नष्ट करने की बात कही थी? क्या वह राजविद्रोह की तैयारी कर रहा है?'

एक पंडित ने कहा—महाराज! वह जोर देकर कहता है कि अगर कोई शूद्र आज क्षत्रिय बनना चाहता है या कोई मनुष्य राजा बनना चाहता है तो बनने दो। राजा बनने के लिये राजकुल में जन्म लेने की कोई जरूरत नहीं है। फल इसका यह हुआ है कि लोगों के हृदय में आपके ऊपर भक्ति ही नहीं रही है। यह बहुत भयंकर प्रचारक है, महाराज!

महाराज ने ओंठ चबाकर कहा—'हुँ' । बीजाक्षरी संहारक मंत्र के समान इस 'हुँ' में अपरिमित क्रूरता भरी थी ।

(१४)

मुनि कार्तिकेय का लोकोपकार भी आत्मोद्धार के लिये था, आत्मोद्धार लोकोपकार के लिये । परोपकार के लिये वे जितना बाहिरी कार्यों पर जोर देते थे उससे ज्यादा आत्मशुद्धि पर जोर देते थे । आवश्यक कार्यों के सिवाय वे सदा मौन रखते थे, और रात्रि में तो मौन निश्चित था । जिस समय राजा के सिपाही मुनिराज के पास पहुँचे उस समय वे ध्यान में बैठे थे । आसपास दो चार नागरिक थे जो कि भक्तिवश अभी तक घर नहीं गये थे । राज पुरुष ने पूछा—वह नया साधु कहाँ है । नागरिकों को यह एकवचन खटका । वे ताज्जुब में राजपुरुष की तरफ देखने लगे । राजपुरुष ने एक क्रूरदृष्टि नागरिकों पर डाली । फिर इधर उधर नजर डाल कर और पास ही बैठे हुए कार्तिकेय को देख कर बड़े मिजाज से उनके पास पहुँचा । 'तुम को महाराज ने गिरफ्तार करने का हुकुम दिया है' । ये शब्द उसने अधिकारपूर्ण स्वर में कहे परन्तु उत्तर कुछ न मिला । 'क्या सुन नहीं पड़ता ? 'तुम को अभी चलना पड़ेगा' आदि का भी कुछ उत्तर न मिला । तब एक सिपाही ने हाथ पकड़ कर उठाना चाहा परन्तु उठा न सका । नागरिकों ने कहा—'आप इस तरह अन्याय क्यों करते हो ? आप सबेरे तक शान्त रहिये' ! राजकर्मचारी ने तमक कर कहा—'चुप रहो' । एक सिपाही ने एक नागरिक को धक्का देकर गिरा दिया ।

जब कुछ बस न चला, तो एक ने सिर, एक ने कमर,

एक ने पैर पकड़ कर उठा लिया और इस तरह लादकर वे राज महल में पहुँचे। राजा ने कहा—यह क्या!

'महाराज! न तो यह बोलता है, न हिलता डुलता है। 'राजा ने क्रूरतापूर्वक हँसते हुए कहा—अच्छा जरा इसकी मरम्मत कर दो।'

सिपाही, भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़े। शोर होने लगा। रानी के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। उसका कोमल हृदय पिघल उठा। वह दौड़ कर नीचे आई। कार्तिकेय का शरीर खून से लथपथ हो रहा था। रानी ने चिल्लाकर कहा-अरे यह क्या करते हो। यह तो मेरा भाई कार्तिकेय है। राजा एक क्षण के लिये चौंका, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने कहा—कोई भी हो। जो राजद्रोही है उसकी यही दशा होना चाहिये। रानी ने कुछ न सुना। खून से स्नान किये हुए अपने भाई से लिपट कर रोने लगी।

राजा ने कठोरता से कहा—राज शासन में आड़े आने का तुझे कुछ अधिकार नहीं है। गुलाम की तरह रहना तो रह। इसके बाद राजा ने रानी का हाथ पकड़कर दूसरी तरफ ढकेल दिया, और चिल्लाकर कहा—हटाओ इसको! आँसू बरसाती हुई दासियों ने रानी को अपने हाथों पर रक्खा और भीतर ले गई।

(१५)

राजमहल के बाहर कार्तिकेय का अर्धमृतक शरीर एक कम्बल से ढककर ढाक दिया गया था जिसे कि तुरन्त ही कुछ लोग उठा ले आये थे। रात्रि भर खूब परिचर्या होती रही परन्तु सफलता के चिन्ह न थे। दूसरी तरफ रात्रि भर लोकसभा की बैठक होती रही

थी। सब काम चुपचाप हो रहा था। रोहिवनगर एक तरह से शान्त था परन्तु यह शान्ति ऐसी थी जैसे तूफ़ान आने के पहिले समुद्र में होती है।

(१६)

प्रातःकाल जब राजा सोकर उठा तब उसे राजमहल बिलकुल शान्त मालूम हुआ। नौकरों को पुकारा परन्तु कोई उत्तर नहीं। राजा पहिले क्रुद्ध हुआ, फिर चिन्तातुर। वह उठा। खिड़कीमें से बाहर नजर डाली। राजमहल चारों तरफ़ से घिरा था। राजा को समझने में देर न लगी, वह रानी के कमरे की ओर भागा।

रानी अभी तक बिस्तर पर पड़ी थी। राजा ने उसे आवाज देकर जगाया परन्तु रानी ने कुछ भी उत्तर न दिया। राजा ने भर्राई हुई आवाज में कहा—'यह रिझाने का समय नहीं है। मैं मौत के मुँह में फँस गया हूँ। सिर्फ़ अन्तिम भेंट करने आया हूँ'। अब की बार भी रानी न बोली।

'अच्छा! इतना क्रोध! इतना अभिमान!' यह कहकर वह कमरे से बाहर हो गया परन्तु कमरे से बाहर कोई दूसरा आदमी था ही नहीं। नीचे बहुत से आदमियों की आवाज आ रही थी। राजा ने दौड़कर बीच के दो तीन दरवाजे बन्द कर दिये। फिर मन ही मन गुनगुनाया— रानी, मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है परन्तु अन्तिम समय में तुम मुझ से बात भी न करो, यह तो समस्त अपमानों का बहुत अधिक प्रतिशोध है'। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसने एक बार रानी को हाथ पकड़कर उठाने का विचार

किया। इसलिये कमरे में पहुँचा। रानी का हाथ पकड़ा परन्तु वह बिलकुल ठंडा था, नाड़ी बन्द था। रानी तो कभी की स्वर्ग चली गई थीं।

राजा रानी का सिर अपनी गोद में रखकर आँसू बहाने लगा। इतने में एक जोर के धक्के से कमरे के किवाड़ टूटकर गिर पड़े और पाँच सात आदमियों ने कमरे में प्रवेश किया। बाकी लोग बाहर खड़े रहे। राजा ने आँसूभरी आँखों से उनकी तरफ देखा और नजर फेंककर फिर रानी का मुँह देखने लगा। आगंतुकों में से एक ने कहा—रोहेडराज्य की प्रजा की तरफ़ से तुम को गिरफ्तार करता हूँ।

राजा ने कुछ उत्तर न दिया।

दूसरा बोला—तुमने प्रजा के पूज्य व्यक्ति का वध किया है।

तीसरा बोला—तुमको मृत्युदण्ड दिया जायगा।

राजा ने कुछ उत्तर न दिया। वह उठा और उसने हथकड़ी पहिनने के लिये अपने हाथ बढ़ा दिये।

(१७)

कार्तिकेय की अवस्था बहुत खराब थी। बीच बीच में वे बेहोश हो जाते थे। जिस समय प्रजा के मुखियों ने राजा को लाकर वहाँ खड़ा किया उस समय वे बेहोश थे। चिकित्सक लोग कह रहे थे—थोड़ी देर में इन्हें होश आजायगा।

उनकी बात सच हुई। कार्तिकेय को होश आया। उनने आँखें खोलीं और पैरों की तरफ़ थोड़ी दूर पर हथकड़ियों से जकड़े हुए राजा की तरफ़ उनकी दृष्टि पड़ी। राजा ने शरम से सिर झुका

लिया। एक नागरिक ने कहा—आप के ऊपर अत्याचार करने के कारण प्रजा ने इसे कैद किया है। इसे मृत्युदण्ड दिया जायगा। आपकी आज्ञा भर की देर है।

असह्य वेदना के रहने पर भी कार्तिकेय के मुँह पर हलकी हँसी दिखाई देने लगी। वे बोले—इनने जो कुछ किया, अज्ञान से या किसी के सिखाने से किया। मैं इन्हें क्षमा करता हूँ। इन्हें छोड़ दो।

सब ने बड़े आश्चर्य से यह आज्ञा सुनी। राजा के आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा। उसका हृदय जो अभी तक विवशता से सब सह रहा था, गलकर पानी होगया। उसे अपने कृत्य का तीव्र पश्चात्ताप हुआ। उसने कहा—महाराज! मैं क्षमा नहीं चाहता हूँ। प्रायश्चित्त चाहता हूँ।

कार्तिकेय ने कहा—प्रायश्चित्त तप है। वह कराया नहीं जा सकता, किया जा सकता है। इसके बाद उनकी अवस्था बिगड़ने लगी। अन्त में लड़खड़ाते हुए शब्दों में उनने कहा—इन्हें.... छो....ड़....दो....

इसके बाद महात्मा ने महायात्रा की। सब को असह्य दुःख हुआ। परन्तु जो दुःख राजा को हुआ वह अप्रतिम था।

मध्याह्न के बाद महात्मा की स्मशान यात्रा का बड़ा भारी जुलूस निकला। सारा नगर उमड़ आया। महात्मा के शरीर के लिये जो विमान बनाया गया था उसके अगले भाग में जो एक आदमी था उसके आँसू सब से ज्यादः बह रहे थे। वह

राजा था ।

इस समय नगर में कोई न बचा था । प्रकाश के भय से उल्लू की तरह सिर्फ़ वही पंडित घर के किसी अँधेरे भाग में छिपे पड़े थे ।

स्थूलिभद्र

(१)

ग्रीष्म के दिन बीत गये थे, मानों अग्नि बरसाते बरसाते सूर्य का भाण्डार खाली पड़ गया हो और इसीलिये उसकी प्रखरता कुछ कम हो गई हो। वर्षा का प्रारम्भ होनेवाला था। कृषक लोग तृषित नेत्रों से आकाश की ओर ताका करते थे। मयूरों के हृदय में नवाशा से आनन्दोल्लास हो रहा था। पिपासु चातक के आनन्द का पारावार न था। वसुन्धरा हरियाली रूपी हरित साड़ी की आशा से उसी तरह मुदित हो रही थी, जैसी युवती कन्या विवाह के वस्त्रों को देखकर मुदित होती है। ऐसे ही वर्षारम्भ के समय में जब कि सारा संसार जुदी जुदी आशाओं के आनन्द सागर में निमग्न हो रहा था, मुनिराज संभूतिविजय आचार्य इस संसार के नाटक पर एक तटस्थ दर्शक की तरह विचार कर रहे थे। इसी समय उनके चारों शिष्यों ने आकर उन्हें नमस्कार किया।

आचार्य श्री ने आशीर्वाद दिया। शिष्य यथास्थान बैठ गये। थोड़ी देर निस्तब्धता रही। निस्तब्धता को भंग करते हुये प्रथम शिष्य ने प्रार्थना की—महाराज! चातुर्मास का समय आ गया है, इसलिये आज्ञा दीजिये कि मैं एक सिंह के गुफा के भीतर बैठकर चौमासा

पूर्ण करूँ। इसी तरह दूसरे शिष्य ने सिंह की गुफा में और तीसरे ने सर्प की बामी पर चौमासा पूर्ण करने की आज्ञा माँगी। पीछे से स्थूलिभद्र का नम्बर आया। इनने कोशा वेश्या के यहाँ चौमासा पूर्ण करने की आज्ञा माँगी। इनकी प्रार्थना सुनकर तीनों शिष्य मन ही मन हँसकर मुसकाये। किन्तु आचार्य महाराज ने बिना किसी भेदभाव के कहा— "तथास्तु"।

(२)

एक दिन था जबकि पाटलीपुत्रनगर की हवा में कोशा वेश्या का नाम गूँजता था, रसिक लोग मतवाले बनकर उसके नाम पर जान देते थे। यौवनमत्त युवकों के लिये उसकी सुरीली तान, हरिणों के लिये व्याधा की बाँसुरी की आवाज से भी अधिक मनोमोहक थी। मंत्रिपुत्र स्थूलिभद्र उसकी आँखों के तारे हो रहे थे। उसका सदन स्वर्ग का प्रतिद्वन्दी था; और सौभाग्य, उर्वशी के सौभाग्य की अवज्ञा करता था।

किन्तु वे दिन गये। स्थूलिभद्र मुनि हो गये; कोशा का हृदय सिंहासन खाली हो गया। वही वैभव था, किन्तु निष्प्राण। वही सौन्दर्य था किन्तु कुम्हलाया हुआ। वही आवाज थी लेकिन बेसुरी। ढंग बना रहा, रंग उड़ गया। कोशा उदास हो गई। कोशा वेश्या थी, इसलिये उसके लोभी रसिक आते थे किन्तु निराश होकर लौट जाते थे। वह सोते में—जागते में स्थूलिभद्र के ध्यान में मग्न रहती थी; उन्हीं के नाम की माला जपती थी। वह स्थूलिभद्र की दासी बन गई, वेश्या न रही। नित्य उठकर वह स्थूलिभद्र की बाट देखती, सवेरे से शाम तक यही करती। यही उसकी दिनचर्या थी।

एक दिन वह देखती है कि वे ही स्थूलिभद्र—आँखों के तारे स्थूलिभद्र—मेरे घर की ओर आ रहे हैं। यह कैसा आश्चर्य! मयूर के लिये बिना मेघ के ही अकस्मात् वर्षा कैसी! चकोर के लिये यह अकस्मात् चन्द्रोदय कैसा! कोशा हर्ष के वेग को सम्हाल न सकी, चकित और हर्षित होकर पत्थर की मूर्ति की तरह मुनिराज स्थूलिभद्र की ओर देखती रही। बस! इकटक देखती ही रही।

जब स्थूलिभद्र सामने आकर खड़े हो गये तब कोशा को कुछ होश आया।

हैं! यह क्या! मेरी बुद्धि कहाँ चली गई! मैंने न स्वागत किया, न कोई बात की। मन में क्या कहते होंगे! कोशा यही विचार कर रही थी कि इसी समय उसकी विचारधारा को भंग करते हुए मुनिराज ने कहा—कोशा!

कोशा बोली—प्यारे!

मुनिराज चौंके। बहुत दिनों की धारणा, स्मृति के रूप में आकर खड़ी हो गई, किन्तु चरित्र की प्रबल धारा के सम्मुख क्षण-मात्र में बह गई। मुनिराज ने धीरे किन्तु दृढता-व्यंजक स्वर में कहा—"कोशा! मैं आज भिक्षुक की तरह तेरे द्वार पर आया हूँ-तेरा 'प्यारा' बनकर नहीं।"

कोशा ने मन में सोचा—अभी वैराग्य चमक रहा है किन्तु वह भड़कदार कच्चे रंग की तरह शीघ्र ही फीका पड़कर विलीन हो जायगा। वह बोली-तन, मन, धन सब आपका है। आज्ञा कीजिये।

कोशा का एक एक शब्द मोह के विष में बुझा था, किन्तु

मुनिराज सतर्क थे। उनने और भी सतर्क होकर कहा—कोशा! मैं आज्ञा नहीं—याचना करता हूँ, वह भी तन, मन, धन की नहीं, किन्तु सिर्फ चौमासा बिताने के लिये थोड़े से स्थान की।

(३)

जिस दिन से मुनिराज स्थूलिभद्र कोशा के यहाँ आये उस दिन से वहाँ का सारा रंग बदल गया। कोशा का मुख प्रभात पद्म की तरह खिल गया। शरीर विद्युत्प्रवाहयुक्त बिजली के ग्लोब (गोला) की तरह चमकने लगा। भविष्य की आशाओं में निमग्न युवती नई दुलहिन के हृदय की तरह कोशा का हृदय आनन्द सरोवर में डुबकियाँ लेने लगा। जिस घर में मुनिराज ठहरे हुये थे उसी के चारों तरफ, चन्द्र के चारों ओर चन्द्रमण्डल की तरह वह घूमने लगी।

दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बीतने लगे, किन्तु स्थूलिभद्र पक्के मुनि बने रहे। वे रसिकराज स्थूलिभद्र न बन पाये। फिर भी कोशा निराश न हुई।

(४)

प्रभात का समय था। आकाश से रिमझिम रिमझिम बूँदकियाँ गिर रही थीं। सभी लोग सवेरे पहर की मीठी निद्रा लेने में मस्त थे। सिर्फ आत्मध्यान में लीन तपस्वी और विरही विरहिणियों को नींद न थी।

योगी परमेश्वर का ध्यान करते थे और विरहिणी हृदयेश्वर का। प्रेमयोगिनी कोशा की रात्रि जागते ही बीती थी। स्थल में मछली की तरह वह रातभर छटपटाती रही थी। आँखें लाल हो गई थीं। वे थकी थीं, परन्तु नींद न थी। वह उठी और उसने

लगी। फिर भी शान्ति नहीं। बैठ गई। अब किसी भी तरह शांति न मिली तो वीणा उठाकर बजाने लगी। सवेरे का समय था। चारों ओर निस्तब्धता थी। वीणा झनझना उठी। उसी के साथ में कोशा की सुरीली आवाज भी मिल गई—

"मेरा मन छीन मुझे दीन किया प्यारे।"

हवा में गूँज गया 'मेरा मन'। भवन की एक एक ईंट से आवाज निकलने लगी 'मेरा मन'। यह आवाज, मुनिराज स्थूलिभद्र के कमरे में पहुँची। उधर भी प्रतिध्वनि हुई 'मेरा मन'।

(५)

प्रातःकाल के समय ज्योंही मुनिराज स्थूलिभद्र का ध्यान समाप्त हुआ त्योंही उनके कान में आवाज पहुँची 'मेरा मन छीन मुझे दीन किया प्यारे'। सवेरे के समय वीणा की झंकार के साथ ऐसी सुरीली तान सुनकर साधारण मनुष्य के हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती है। मुनिराज के हृदय में भी क्षोभ हुआ। कोशा के प्रेम से नहीं किन्तु उसकी दीनता से। उसके साथ प्रेम करने के लिये नहीं, किन्तु उसका पागलपन दूर कर उसका उद्धार करने के लिये।

प्रेम का वेग बरसात की नदी की धारा से भी प्रबल है। उसे कोई रोक नहीं सकता। प्रेमी वैराग्य का उपदेश नहीं सुनता, किन्तु उससे उसका प्रेम और भी ज्यादा भड़कता है। मुनिराज असमंजस में पड़े, फिर भी उनने कोशा को बुलाया।

कोशा ने समझा—पार्वती की तपस्या से महादेव प्रसन्न हो गये हैं। बड़ी प्रसन्न हुई। वह मुनिराज के कमरे में आई; दोनों का सामना हुआ। थोड़ी देर निस्तब्धता रही, जैसे तूफान आने के

पहिले समुद्र में रहती है।

दोनों अपने अपने दाँव-पेंच का विचार कर रहे थे, मानों वह कमरा शृंगार और वैराग्य के युद्ध का मैदान था।

मुनिराज बोले—'कोशा! तुम मेरे आने से दुखी क्यों हो? अपना दुख मुझ से कहो; तुम क्या चाहती हो?'

आँसुओं का रुका हुआ बाँध फूट पड़ा। दुख मनुष्य के हृदय को पत्थर बना देता है, लेकिन सान्त्वनापूर्ण वचन उसे पानी बना देते हैं। कोशा से वह सान्त्वनापूर्ण वचन न सहा गया; वह रोने लगी। कुछ देर बाद सम्हलकर बोली—'मैं क्या चाहती हूँ, तुम क्या जानते नहीं हो? क्या वचन को छोड़कर दूसरी भाषा नहीं है? क्या वह भाषा भूल गये?'

मुनिराज—'लेकिन कोशा! अब तो मैं योगी हो गया हूँ; आत्मोद्धार के महान् कार्य में लगा हूँ।'

कोशा ने कुछ हँसकर कहा—'आप आत्मोद्धार के लिये अर्थात् अपने स्वार्थ के लिये योगी हुए हैं, परन्तु मैं तो आप के लिये योगिनी हुई हूँ।'

मुनिराज—अर्थात् मैं स्वार्थी और तुम परोपकारिणी हो?

कोशा—ये शब्द न सही किन्तु तुम्हारे लिये ही मर रही हूँ, इस बात पर शायद अविश्वास न करोगे।

मुनिराज—नहीं; मैं तुम्हें जानता हूँ! किसी तरह यह भी ठीक है कि तुम अपने लिये नहीं मर रही हो, किन्तु जरा फिर विचार कर कहो कि तुम मुझे कितना चाहती हो?

कोशा—अपने से भी अधिक।

मुनिराज—हमारे और तुम्हारे स्वार्थ में यदि विरोध उत्पन्न हो तो तुम किसका स्वार्थ साधेगी ?

कोशा— आपका ।

मुनिराज—लेकिन शायद इसका निर्णय तुम्हीं करोगी कि हमारा स्वार्थ क्या है ? तब तो हमारे स्वार्थ के नाम से अपना स्वार्थ ही पूरा करोगी ।

कोशा—नहीं । इसमें निर्णय करनेवाले भी आप ही होंगे ।

मुनिराज—कोशा ! वास्तव में तुम परोपकारिणी हो, तुम्हारा नारी जन्म सार्थक होगया । आशा है, मेरे सुख के लिये तुम सब कुछ कर सकोगी ।

कोशा—तन, मन, धन सब आपके लिये ही हैं ।

मुनिराज गम्भीर होकर बोले—कोशा ! मुझे सुखी बनाओ । यह संसार पाप और दुःखों से भरा हुआ है । मैं इसके पार जाना चाहता हूँ, और दुनिया को सत्य का पाठ पढ़ाना चाहता हूँ । तुम्हारा प्रेम इसमें बाधक बन रहा है । इसे खींच लो । जिस रास्ते में जा रहा हूँ, उसी पर तुम आ जाओ ।

कोशा ने आह खींची, किन्तु चुप रही ।

मुनिराज—कोशा ! तुमने अपने को परोपकारिणी कहा है, इसलिये मुझे मत खींचो ! किन्तु मेरे स्वार्थ के लिये तुम स्वयं खिंच आओ; मेरे रास्ते पर आ जाओ ।

कोशा फिर भी चुप रही, लेकिन अन्तस्तल से आवाज उठी कि मैं परोपकारिणी नहीं, स्वार्थ-लिप्त हूँ ।

मुनिराज बोल उठे—क्या तुम भोगों से तृप्त हो सकती हो ?

इतने दिन के भोगों से क्या तुम्हारी प्यास बुझी है या बुझने की आशा है?

कोशा फिर भी चुप रही थी लेकिन हृदय का रंग बदल गया था। वह मन ही मन अपनी निन्दा कर रही थी; शृङ्गार पराजित हो चुका था।

मुनिराज बोलते ही गये—जब ये भोग एक दिन अपने को छोड़ ही देंगे तब हम ही इन्हें क्यों न छोड़ दें! मानव-जन्म उन के लिये क्यों समर्पित कर दें! जान-बूझकर क्यों धोखा खायें!

कोशा की आँखों में आँसू आ गये।

मुनिराज बोले—अब फिर बोलो, क्या चाहती हो?

कोशा पैरों में गिर पड़ी और रोती हुई बोली—गुरुवर्य! और कुछ नहीं चाहती, सिर्फ़ एक चीज चाहती हूँ।

मुनिराज—वह क्या?

कोशा—क्षमा और पापों का प्रायश्चित!

मुनिराज—तथास्तु।

कोशा ने पञ्चअणुव्रत ग्रहण किये और श्राविका बन गई। उसके रसिकराज-स्थूलिभद्र—गुरुवर्य-स्थूलिभद्र बन गये।

(६)

आकाश निरभ्र था। सरोवर के जल में स्वच्छता आ गई थी। आवागमन का मार्ग साफ हो गया था। इन्हीं दिनों में एक मध्याह्न के अनन्तर आचार्य संभूतिविजय अपने चारों शिष्यों के साथ बैठे हुए थे। सब अपने अपने चौमासे का विवरण सुना रहे थे। सब सुनकर आचार्य ने तीन शिष्यों से कहा—'तुमने दुष्कर

कार्य किया है ।' लेकिन स्थूलिभद्र से कहा कि तुमने अतिदुष्कर कार्य किया है ।

तीनों शिष्यों को यह बात असह्य हुई ।

एक बोला—हम लोग शरीर को काठ बनाकर आये हैं; घोर परिषहों को सहन किया है लेकिन हमारे कार्य तो दुष्कर हैं और स्थूलिभद्र का कार्य अतिदुष्कर !

दूसरा बोला—आचार्य महाराज भूल गये हैं ।

तीसरा—नहीं जी ! आचार्य महाराज का सरासर पक्षपात है ।

(७)

दिन बीतते देर नहीं लगती । कालचक्र किसी की पर्वाह नहीं करता । हम सुखी रहें या दुखी, परोपकार करें या स्वार्थ, आत्मोद्धार में समय लगावें या विषयों की कीचड़ में, कालचक्र तो अपनी चाल से चलेगा । धीरे धीरे आठ महीने बीते । दूसरा चौमासा आया । अबकी बार सिंह गुफावासी साधु ने वेश्या के यहाँ चौमासा बिताने का विचार किया । आचार्य सम्भूतिविजय ने आज्ञा भी दे दी ।

(८)

गणिका कोशा ने देखा कि एक मुनि मेरे घर की ओर चले आ रहे हैं—क्या मुझे वेश्या समझकर ही परिषह के विजय के लिये ये महाराज यहाँ आ रहे हैं ? नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता । तब क्या गुरुभाई स्थूलिभद्र की ईर्षा से ? सम्भव है, और ! देखा जायगा । कोशा ने मुनिराज की बड़ी भक्ति और आदर के साथ रहने का स्थान दिया । अब उसके शरीर पर शृंगार का भार न था, किन्तु लावण्य की स्वच्छता थी ।

(९)

मीठे के साथ मीठे भोजन में वह मजा नहीं है जो कड़ुए के साथ मीठे भोजन में है। इसी तरह जब सौन्दर्य शृंगार के साथ उपस्थित होता है उस समय उस में उतनी मनोज्ञता नहीं रहती जितनी सादेपन के साथ में। शृंगार कृत्रिमता ला देता है और सौन्दर्य का बाधक बन जाता है। वह बनावटी छोटा-सी नाली के समान है। लेकिन सादापन, सौन्दर्य की प्राकृतिकता को प्रगट करता है। वह बल खाती हुई महानदी के समान है। इसीलिये कोशा का सौन्दर्य पहिले की अपेक्षा अधिक मनोमोहक साबित हुआ।

प्रेम अच्छा है, लेकिन जब वह वासना का रूप धारण कर के प्रबल हो जाता है, तब दूसरा प्रेमी उपेक्षक बन जाता है। लेकिन उपेक्षक सौन्दर्य दूसरों का ध्यान ज्यादा आकर्षित करता है। कोशा का सौन्दर्य अब अपेक्षक नहीं उपेक्षक था, इसलिये सिंह गुफावासी वीर साधु के हृदय को भी बन्धन डाल सकता था।

(१०)

बाहर शान्ति थी; किन्तु भीतर प्रबल तूफान-सा उठ रहा था। शृंगार और वैराग्य का महाभारत हो रहा था। पहिले बार स्थूलिभद्र के वैराग्य से शृंगार पराजित हो गया था। अब की बार वह बदला लेना चाहता था।

युद्ध समाप्त हो गया। वैराग्य का किला कमजोर निकला—वह पराजित हो गया।

साधु ने कोशा के आगे आत्मसमर्पण कर दिया।

कोशा ने कहा—मैं वेश्या हूँ।

साधु बोले—यह तो मैं जानता हूँ।

कोशा ने कहा—यह आप नहीं जानते, अन्यथा खाली हाथ वेश्या से प्रेम भिक्षा न माँगते।

साधु बोले—अच्छा तो मैं धन लेकर अभी आता हूँ। साधु चले गये।

(११)

कोशा को साधु के पतन पर बड़ा दुःख हुआ सोचा, शायद दूर जाकर बुद्धि ठिकाने पर आ जाय। लेकिन कोशा की सम्भावना ठीक न थी; साधु महाशय धन लेकर लौटे। कोशा ने देखा उनने कमण्डलु में रत्नकम्बल रक्खा है।

कोशा ने उठाकर उसे नाली में फेंक दिया।

साधु ने घबड़ाकर पूछा—क्यों?

कोशा—ऐसे मूर्ख, स्त्रियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकते।

साधु—कैसी मूर्खता?

कोशा—इतना महँगा कम्बल खरीदना क्या चतुरता है?

साधु—महँगा कैसा! मैंने उसके लिये क्या दिया है?

कोशा—यह कहो कि क्या नहीं दिया है? सोना, चांदी, मणि, माणिक थोड़े दिनों के परिश्रम करने से मिल जाते हैं। वह देने से कुछ हानि न थी। लेकिन अनन्त जन्मों में चक्कर लगाते लगाते जो मानव जीवन और धर्म धन तुम्हें मिला था वह सब तुम ने एक कौड़ी के लिये नष्ट कर डाला। इतनी बहुमूल्य वस्तु गमा-कर भी कहते हो कि क्या दिया? जाओ पहिले मुनिवर स्थूलिभद्र से चतुरता का पाठ सीखो। फिर यहाँ आना।

अहङ्कारी ईर्ष्यालु साधु का अहङ्कार टूट गया; ईर्ष्या लुप्त हो गई। वह लज्जित होकर लौट आया।

(१२)

आचार्य संभूतिविजय के आगे सिंह गुफावासी साधु लज्जा से नीचा सिर किये बैठे थे। पश्चात्ताप से उनका हृदय जल रहा था। वे आचार्य से फिर संयम धारण करने की आज्ञा माँग रहे थे।

आचार्य 'तथास्तु' कहकर बोले—इससे तुम्हारे ईर्ष्या अभिमान का भी अन्त आगया।

साधु—जी हाँ! और दुष्कर एवं अति दुष्कर का भेद भी समझ गया।

यह सुनकर उस छोटी-सी साधु-मण्डली में सब के मुखों पर हलकी-सी हास्य-रेखा बिजली के समान चमककर विलीन हो गई।

आपद्धर्म

(१)

शिवण्णा धर्मात्मा था या नहीं; यह तो कौन जाने ! परन्तु उस का धर्मात्मापन था बहुत प्रसिद्ध। जबतक वह दो कुंओं की रसोई लायक ईंधन जलाकर अपना होमयज्ञ न कर लेता, कभी भोजन न करता। बिना जनेऊवाले आदमी के हाथ का वह पानी भी न पीता था। सूतक-पातक का विचार तो इतना करता था कि अगर किसी आदमी को अपने घरवालों से प्रेम हो तो वह नरक में जा-कर मरना पसन्द करेगा, परन्तु शिवण्णा के पड़ोस में मरना पसन्द न करेगा, क्योंकि ऐसा करने पर उस के घरवालों को—जिन में छोटे छोटे बच्चे भी होंगे—अपनी छाया तक बचाने के लिये दिन रात घर में घुसकर बैठना पड़ेगा, शौच और पेशाब के लिये निक-लना तक मुश्किल हो जायगा।

इन सब बातों से शिवण्णा को भी अड़चन होती थी और उसके पड़ोसियों को भी, परन्तु उस जमाने में दुःख असुविधा, घृणा आदि धर्म के पर्यायवाची, समझे जाते थे। इसलिये गाँव भर में शिवण्णा का धर्मात्मापन मशहूर था। 'अगर शिवण्णा धर्मात्मा न होता तो इतनी लकड़ियाँ हर दिन क्यों जलाता ! अनेक असुविधाएँ

क्यों उगाता ?" उस जमाने के आदमियों के पास इस तर्क का कोई उत्तर न था।

परन्तु दुर्भाग्य से शिवप्रा के पड़ोस में जैनियों की भी बस्ती थी। यह केर बेर का संयोग था। जैनी लोग हवन आदि कुछ न करते थे। पूजा तो करते थे, परन्तु वे भगवान को भाग लगाना पसन्द नहीं करते थे। उन सब को यह शिवप्रा ही भंत्रपूत जनेऊ दिया करता था। उसके बदले में इसे कान चलाऊ दक्षिणा भी मिलती थी। तिथि त्योहारों पर वह सब के यहाँ देवपूजा कर आता था। गाँव में जब किसी के यहाँ कोई पैदा होता था तब इसके घर घी के दीपक जलते थे। और जब कोई मरता था तब भी घी के दीपक जलते थे। जबतक शिवप्रा को दलाली न मिल जाती तबतक ईश्वर किसी को अपने यहाँ नहीं बुला सकता था और न उच्चवर्णी कुटुम्ब में किसी को भेज सकता था। शिवप्रा का ऐसा ही अधिकार था और सब लोग उसके इस अधिकार को मानते भी थे। परन्तु इसके पड़ोसी जैनी इसे फूटी कौड़ी या दो दाने अनाज भी न देते थे। वे सूतक मानते नहीं थे, जनेऊ की उन्हें जरूरत नहीं थी। पूजा के लिए आग जलाने और ईंधन बरबाद करने का उपदेश उनके धर्मशास्त्र नहीं देते थे, न उन्हें पैदा होने या मरने का टैक्स देना पड़ता था। इसलिये शिवप्रा उन से मन ही मन जला करता था। परन्तु जैनियों का यह व्यवहार सदा से चला आ रहा था इसलिए वह कुछ कह न सकता था। फिर भी वह मन ही मन अवश्य सोचा करता था कि जैनियों को कभी न कभी इस नास्तिकता का फल चखाऊँगा। वह किसी मौके की तलाश में था।

(२)

पड़ोसी जैनी के घर में एक बुढ़िया मर गई । शिवप्पा को बड़ा रंज हुआ; इसलिये नहीं कि बुढ़िया मर गई परन्तु इसलिये कि वह मर गई लेकिन इसे कुछ न मिला। यमराज पर भी उसे गुस्सा आया कि क्या जैनी का घर ही उसे शिकार के लिये मिला था। आज उसे किसी के यहाँ से भी टैक्स न मिला था। शिवप्पा के सौभाग्य से एक आदमी मरा भी तो वह जैनी के घर का निकला। शिवप्पा रंज में बैठा रहा।

जैनी लोग एकत्रित हुए। मिलकर बुढ़िया को जला आये। लौटकर सब ने बुढ़िया के लड़के को और घरवालों को समझाया। एक वृद्ध महाशय ने धर्म का उपदेश दिया और शोक शान्त करने के लिये बुढ़िया के लड़के को तथा अन्य लोगों को भी सब लोग मंदिर में ले गये और उनसे पूजा कराई। अन्त में शास्त्र पढ़ा गया, संसार की असारता और जीवन की उपयोगिता के विषय में उपदेश हुआ। सब लोग घर गये। बस, प्रेत-क्रिया समाप्त हो गई। न किसी को खाने मिला, न आर्त्तध्यान का कारण सूतक पालना पड़ा, न कोई धर्मक्रिया छूटी। जैनियों का यह सीधासादा निश्छल और स्वावलम्बी जीवन शिवप्पा की नजरों में शूल की तरह चुभने लगा। वह इसका बदला चुकाने के लिये उतावला हो गया।

(३)

शिवप्पा पूरा धर्मात्मा था इसलिये वह पत्तों से भी लड़ने की ताकत रखता था। इसलिये पड़ौसी जैनियों से लड़ने के लिये उसे कोई विशेष बहाना न ढूँढ़ना पड़ा। सुबह सब ने बड़े कौतुक से

और आश्चर्य से देखा कि वह द्वार के चबूतरे पर बैठा हुआ जोर जोर से गालियाँ बक रहा है और कह रहा है—'अरे पूरा कलियुग आ गया ! ये अधर्मी शूद्र यहाँ बसे हुए हैं । कलियुग न होता तो ब्राह्मण के पड़ोस में शूद्र बस पाते ! क्या करूँ ! कोई सुननेवाला नहीं है । अब तो धर्म रक्षा नहीं हो सकती । कैसे नास्तिक, दुष्ट शूद्रों से पाला पड़ा !'

शिवप्पा जब अपनी दिव्यध्वनि खिरा रहा था तब एक पड़ोसी घर के बाहर आया । वह एक स्वच्छ धोती पहिने था परन्तु उसने अभी उत्तरीय नहीं पहिना था । उसका नाम जिनप्पा था । थोड़ी देर तक तो वह शिवप्पा का गर्जन तर्जन देखता रहा; फिर गम्भीरता से बोला—'क्या महाराज, किसे गालियाँ दे रहे हो ! आज किसकी शामत आ गई जो सबेरे से ही आपका उपद्रव होने को आ गया ।

शिवप्पा ने गर्जकर कहा-'किसकी क्या, तुम्हारी शामत आ गई । तुम्हारे मारे हम लोगों का धर्म भी नहीं बच पाता । इसका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा ।'

'आखिर कहो भी क्या हुआ ?'

'हुआ क्या ? आज सबेरे ज्योंही मैं उठकर बाहिर आया कि कि तुम्हारा लड़का द्वार खोले खड़ा था । अब बतलाओ, जब सबेरे से ही तुम लोग इस तरह सामने खड़े हो आया करोगे तो आखिर हम लोग कहाँ जायेंगे ! कुछ आँखें मूँद कर तो द्वार पर आयेंगे नहीं; और न आँख कहीं फेंक देंगे । इसलिये तुम्हें तो देखना ही पड़ेगा, और तब धर्म-कर्म रहा ही क्या ?'

जिनप्पा ने ये बातें सुनकर जरा मुसकरा दिया क्योंकि वह समझ गया था कि शिवप्पा ने अवश्य ही रात्रि में कोलदवासिनी की दरबार सेवा कर ली है, अभी तक वह देवी की कृपा से मुक्त नहीं हुआ है।

जिनप्पा बोला—महाराज वह लड़का क्या कोई राक्षस था या दानव था? जिसे देखते ही धर्म रसातल जाने को तैयार हो गया। आपका धर्म इतना डरपोक क्यों है, जो जरा से लड़के की सूरत देखने ही रसातल जाने को तैयार हो गया!

शिवप्पा और भी गर्ज कर बोला-लड़का है तो क्या हुआ? आखिर है तो शूद्र का। लड़का हो या जवान, जब सबेरे से शूद्र का मुँह दिखाई देने लगेगा तो धर्म कैसे रह सकता है!

अब तो जिनप्पा चौंका। अभी तक तो वह शिवप्पा को नशे में समझ रहा था, और उसकी बातें थी भी नशेबाज सरीखी, परन्तु और रंग-ढंग से उसे समझना पड़ा कि ये नशे की बातें नहीं हैं, बल्कि शिवप्पा ने आज कोई षड्यन्त्र रचा है। शायद वह जैनियों से बदला लेना चाहता है। इससे उसे भी क्रोध आ गया। फिर भी उसने, सम्हलते हुए कहा—'महाराज, तुम्हें खबर है कि तुम क्या बक रहे हो! हम लोगों को शूद्र कहकर तुम हमारा अपमान कर रहे हो!

'इस में अपमान कैसा! शूद्रों को शूद्र कहने में अपमान की क्या बात है! क्या तुम शूद्र नहीं हो!'

जिनप्पा को शिवप्पा की धृष्टता देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। आश्चर्य के मारे वह कुछ कह भी न सका। उसने सिर्फ इतना ही

कहा कि क्या तुम सचमुच आज पागल हो गये हो ?

शिवप्पा बोला—'तो क्या तुम शूद्र नहीं हो ? द्विज हो ? अच्छा बतलाओ तुम्हारे पास द्विज के क्या चिन्ह हैं ? क्या तुम्हारे पास जनेऊ है ? क्या तुम सूतक मानते हो ? धर्म कार्यों के लिये क्या तुम्हारे यहाँ ब्राह्मण जाता है ? अगर तुम शूद्र न होते तो तुम्हारे यहाँ धर्म कार्यों के लिये ब्राह्मण क्यों न जाते ?'

'ब्राह्मण तो आज मुँह बांध बैठे हैं परन्तु हमें जब जरूरत हो तब न ? सो ब्राह्मणों के ब्राह्मण तो हम ही लोग हैं। हमारा धर्म धेले के जनऊ में थोड़े ही बँधा है ? हमारा धर्म आत्मा का धर्म है; उसे जनऊ की, ईंधन की और अग्नि की जरूरत नहीं होती, न उसे सूतक लगता है। हम लोग तुम सरीखे मूर्ख नहीं हैं कि जन्म-मरण के समय सूतक मानें ? ऐसे दिनों में धार्मिक कार्य और श्राद्ध करना चाहिये जब कि तुम लोग ऐसे मूर्ख हो कि उस समय धर्म कार्य बन्द कर देते हो।'

जिनप्पा की बातें सुनकर शिवप्पा झेंप तो गया; परन्तु वह कच्चा बेशरम नहीं था कि चुपचाप रह जाता। वह वेदों और शास्त्रों की दुहाई देकर चिल्लाता रहा। वहाँ जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी, उसमें प्रायः सभी कर्मकांडी थे, इसलिये शिवप्पा का व्यवहार अनुचित और उसकी बातें कमजोर होने पर भी उनकी सहानुभूति उसी की ओर थी। इसलिये भी शिवप्पा के गर्जन को उत्तेजना मिलती जाती थी।

आखिर दो घंटे तक शास्त्रार्थ होता रहा। कौन हारा, इस को तो देवता भी नहीं बता सकते। हाँ ! शिवप्पा ने घोषणा कर

ही कि ये लोग द्विजों का कोई आचरण पालन नहीं करते, इसलिये शूद्र हैं और जिनप्पा ने तर्क से यह सिद्ध कर दिया कि शिवप्पा और उसके धर्म में मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं है।

(४)

समय समय का रिवाज है। आज यूरोप में घुड़दौड़ के लिये लाखों रुपये बरबाद होते हैं और घुड़दौड़ के नाम से ही वहाँ के लोगों का हृदय बाँसों उछलता है। यहाँ मुसल्मानी युग में तीतर आदि लड़ाये जाते थे। और हाथी लड़ाने का रिवाज भी बहुत पुराना है। परन्तु मालूम होता है कि इससे भी पुराना रिवाज पंडित लड़ाने का है। बड़े बड़े राजा लोग भी इस तमाशे को देखते थे। उस जमाने में पंडित द्वंद का इतना अधिक रिवाज था कि इनके नियमों और उपनियमों का शास्त्र ही बन गया था।

हम उन हाथियों की बात नहीं कहते जो रणक्षेत्र में जाकर शत्रुपक्ष को कुचल डालते थे; न उन विद्वानों का ही जिकर करते हैं जो सत्य की रक्षा में मर मिटते थे। हम तो उन शास्त्रार्थों का जिकर करते हैं जो राजा लोग विनोद के लिये कराते थे और इसी के लिये राजहस्ती समान राज पंडित भी रखते थे। ये पंडित लोग राजाओं के लिये हाथी के समान ही विनोद की चीज थे।

शायद पंडित लोग भी खुद अपने को हाथी मानते थे इस लिये जब कोई इनसे दिग्गज कहता था तो ये मन ही मन फूल जाते थे और राज-सभा में जरा ज्यादः जोर से गर्जते थे।

खैर साहिब! बात यह है कि इसी तरह के एक दिग्गज काशी से घूमते हुए दक्षिण देश में पहुँचे। आप यहाँ तक बड़े

भारी शास्त्री थे कि अष्टाध्यायी को आदि से अन्त तक तो क्या, अन्त से आदि तक सुना सकते थे। उन्हें ऐसे ऐसे परिष्कार याद थे कि जिनका अर्थ वे खुद ही न समझते थे। एक एक शब्द के इतने रूप बोलते थे कि मुँह की जितनी आकृतियाँ बनना सम्भव हैं उतनी बन जाती थीं। आज की राज-सभा में इन्हीं की दिग्गजता का प्रदर्शन था।

दिग्गज महाराज के डेरे पर शिवप्पा पहुँचा। शिष्टाचार के बाद शिवप्पा ने कहा—अच्छा हुआ जो आप आ गये। यहाँ एक ऐसे आदमी की जरूरत थी जो इन नास्तिक शूद्रों की अक्ल ठिकाने लावे। पांडित्य में या तर्क में तो इन से पार पाना मुश्किल है, परन्तु आप को मैं ऐसी युक्ति बताऊँगा कि ये लोग ढेर हो जायँगे।

दिग्गज पंडित ने बहुत कहा कि मैं अच्छे अच्छे परिष्कार जानता हूँ परन्तु शिवप्पा ने एक अनुभवी वृद्ध की तरह मुसकरा दिया। फिर वृद्ध न होने पर भी एक वृद्ध की तरह बोला—अभी आप को अनुभव नहीं है। मैंने बड़े बड़े परिष्कारियों को देखा है परन्तु जिस आदमी से आज आप शास्त्रार्थ करेंगे उसके सामने बड़ों बड़ों की नहीं चलती। तुम तो मेरे लिये पुत्र के समान हो इस लिये मैं तुम्हें ऐसी युक्ति बताता हूँ कि साँप मर जाय और लकड़ी न टूटे। तुम अगर यहाँ एक बार जम गये तो इस बुढ़ापे में मुझ भी सहारा हो जायगा।

दिग्गज महाराज आखिर गज ही तो थे। शिवप्पा को चालाक देखकर उनने उसे अपना महाजन बना लिया, और शिवप्पा की सम्मति के अनुसार ही उनने काम करना स्वीकार किया।

(५)

अखाड़ा सज गया। दर्शकों की भीड़ लग चुकी थी। महाराज भी आ चुके थे। काशी के पंडित ने उपस्थित मंडली को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। बस क्षण भर के बाद ही एक विद्वान उनके सामने आया। दिग्गज पंडित ने उनसे पूछा—क्या तुम द्विज हो?

आगन्तुक ने कहा—आप को इससे मतलब? आप तो शास्त्रार्थ कीजिये। शास्त्रार्थ से मालूम हो जायगा कि मैं कौन हूं।

'फिर भी आपको अपने द्विजत्व का परिचय देना चाहिये। आपके गले में यज्ञसूत्र है कि नहीं?'

'क्या मैं पशु हूँ जो गले में रस्सी लटकाये फिरूं?'

यह सुनते ही दिग्गज महाराज इतने जोर से 'अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!' चिल्लाने लगे कि राजा चौंक पड़ा और सभा सन्न हो गई। लोग इसका कारण पूछें इसके पहिले ही दिग्गज पंडितजी ने राजा से कहना शुरू किया—

'महाराज! आपके राज्य में यह अंधेर! मैं यहाँ शास्त्रार्थ के लिये आया हूँ, परन्तु उसके लिये अपनी जाति और धर्म को रसातल में नहीं पहुँचाना चाहता। भगवान रामचन्द्रजी के राज्य में शूद्र जङ्गल में जाकर भी तपश्चर्या नहीं कर पाता था जब कि आप के राज्य में तो शूद्रों का प्रवेश राज सभा में भी है। इतना ही नहीं, किन्तु बड़े बड़े क्षत्रिय ब्राह्मणों को भी उन शूद्रों के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ता है! ओह! शिव! शिव! शिव!'

यह सुनकर सभी लोग ताज्जुब में आ गये। राजा ने भी विस्मित होकर कहा—विद्वन् ! इस सभा में शूद्र कोई नहीं है। आपको किसने कहा कि यहाँ शूद्र हैं ?

'महाराज ! शूद्र के क्या सींग होते हैं ? आपके सामने ही जो आदमी मेरे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार है वह स्वयं शूद्र है। अगर वह शूद्र नहीं है तो सिद्ध करे कि वह द्विज है। द्विज उसे कहते हैं जिसके दो जन्म हों। एक शरीर जन्म, दूसरा संस्कार जन्म; परन्तु इस आदमी का संस्कार जन्म नहीं हुआ है इसलिये संस्कार का चिन्ह यज्ञसूत्र भी इसके शरीर पर नहीं है। ऐसी हालत में इसे द्विज कैसे कह सकते हैं ?'

महाराज ने दूसरे पंडित पर नजर डाली। उनकी आँखें कह रही थीं कि बोलो ! इस बात का उत्तर तुम्हारे पास क्या है ?

उस पंडित ने गम्भीरता से कहा—'महाराज हमारे विरोधी बन्धु ने संस्कार और संस्कार विधि का मतलब ही नहीं समझा। संस्कार के लिये जो विधि की जाती है वह निष्फल है। संस्कार विधि के हो जाने पर भी अगर कोई मनुष्य संस्कृत न हो तो उसे द्विज नहीं कह सकते और संस्कार विधि के न होने पर अगर कोई संस्कृत हो जाय तो उसे द्विज कहेंगे। जीवन का संस्कार घंटे दो घंटे या दिन दो दिन में नहीं हो जाता और न गले में रस्सी बाँधने से संस्कार हो जाता है। आत्मा के ऊपर जो अच्छा असर डाला जाय तो वही संस्कार कहलायगा। उसके लिये किसी आडंबर की जरूरत नहीं है। कौन मनुष्य संस्कृत या द्विज है यह बात उस के आचार और ज्ञान से मालूम होती है, न कि गले में पड़ी हुई

रस्सी से । गले में पड़ी हुई रस्सी, संस्कृत होने का झूठा दम्भ पैदा करने के तथा मनुष्य जाति को टुकड़े टुकड़े करने के सिवाय और किसी काम की नहीं। महाराज! जो संस्कृत नहीं है वह द्विज है यह कहना जितना झूठा है, उससे अधिक असत्य यह है कि शूद्र-लोगों को संस्कृत होने का अधिकार नहीं है। मनुष्य एक ही जाति है। आजीविका की योग्यता के अनुसार उसमें चार वर्ण बनाये गये हैं। उनमें लौकिक दृष्टि से भले ही उच्चता नीचता हो, परन्तु धार्मिक दृष्टि से उनमें जरा भी उच्चता नीचता नहीं है। धर्म तो सूर्यों का भी सूर्य है। सूर्य की किरणें जिस प्रकार चांडाल के ऊपर पड़ती हैं उसी प्रकार ब्राह्मण के ऊपर। इसलिये शूद्र के सम्बन्ध से या उसके साथ बातचीत करने से धर्म रसातल को चला जायगा ऐसा कहना स्वयं रसातल को जाना है।

जनकशून्य पंडित जब तक बोलता रहा, तब तक दिग्गज पंडित और शिष्यगण ने अपने हाथों से कानों को बन्द रक्खा था। इस वक्तव्य के समाप्त होने पर दिग्गज पंडित ने कहा—महाराज! मैंने अपने कान बन्द रक्खे थे फिर भी उनमें इस शूद्र के शब्द कुछ न कुछ पहुँच ही गये हैं। इसलिये मुझे पंचगव्य से कानों की शुद्धि करना पड़ेगी। इसके साथ मुझे कुछ बात भी करना पड़ी है इसलिये जीभ की शुद्धि भी इसी तरह करना पड़ेगी। शारीरिक शुद्धि के लिये भी पंचगव्य से स्नान करना पड़ेगा। तथा इस राज्य में ब्राह्मणों का ऐसा अपमान होता है, धर्म इस तरह शूद्रों के द्वारा पद-दलित किया जाता है इसलिये मुझे एक मास तक अनुष्ठान करना पड़ेगा। इस शूद्र ने जो कुछ वेद विरुद्ध, धर्म विरुद्ध और

ईश्वर विरुद्ध बैठा है उसका खंडन मैं पलभर में कर सकता हूँ परन्तु यह तो शूद्र के साथ शास्त्रार्थ करना ही हुआ। इसलिये मैं कुछ नहीं कहना चाहता। मैं ऐसी राज-सभा को प्रणाम करता हूँ जहाँ इस तरह धर्म की हत्या होती हो।

यह कहकर दिग्गज पंडितजी दिग्गज की तरह लोगों को कुचलते हुए सभा के बाहर हो गये।

यह रंग में भंग देखकर राजा को बड़ा रंज हुआ। उसने जैन पंडित से कहा—क्यों जी! तुम जनेऊ क्यों नहीं पहिन लेते?

'महाराज! यह तो घोर मिथ्यात्व है।'

'अच्छा! मिथ्यात्व है तो जाओ। अब इस सभा में मत आना।'

(६)

आचार्य जिनसेन के सामने बड़ी जटिल समस्या थी। यद्यपि इतना वे समझ चुके थे कि जिन विकारों को नष्ट करने के लिये महात्मा महावीरने जैन-धर्म का प्रचार किया था वे ही विकार धीरे धीरे समाज में घुस रहे हैं और शास्त्रों पर भी उनकी अस्पष्ट छाप पड़ने लगी है, परन्तु आज जैसा बुरा अवसर कभी उपस्थित हुआ नहीं था। इसी चिन्ता में वे सिर झुकाये बैठे थे। सामने श्रावक लोग भी बैठे थे उस उपवन में पक्षियों के सिवाय और किसी का शब्द सुनाई न पड़ता था।

एक श्रावक बोला—गुरुवर्य क्या जैन शास्त्रों में जनेऊ, सूतक, जन्मकृत ऊंचता नीचता का किसी भी तरह जगह नहीं मिल सकती?

प्रिय वत्स !

धर्म वृद्धिरस्तु ।

मुझे अपने कृत्य का बहुत पश्चात्ताप हो रहा है । मेरी रचना यद्यपि हिताकांक्षा से हुई है, उसमें धार्मिकता भी बहुत-सी है और उसमें जो मैंने अधार्मिक अंश मिलाया है वह भी प्रच्छन्न है तथा उस अंश की अधार्मिकता सिद्ध करने के साधन भी वहीं हैं, फिर भी मै इसे अपनी भूल—भयंकर भूल ही समझता हूँ; क्योंकि इतनी सतर्कता रखनेपर भी जिनवाणी को मिथ्यात्व के विष से बचाना असम्भव है । विष को रुई में लपटकर दूध में डालनेपर दूध विष के असर से नहीं बच सकता । आपद्धर्म के नामपर जो कुछ किया गया है वह नाशक है । जैनधर्म कल्याण के लिये है, सत्य के लिये है, किन्तु मैने तो जैनधर्म के लिये नहीं किन्तु सिर्फ जैनधर्म के नाम के लिए सत्य की, कल्याण की हत्या कर दी है । आई हुई आपत्ति को सहन करने की शक्ति ही इस आपत्ति का स्थायी उपाय था । इस समय तो हमने आपद्धर्म के नामपर आत्मवञ्चना की है । साथ ही जिसके लिये हमने यह वञ्चना की है उसमें भी हमें सफलता न मिलेगी । अब जैन धर्मियों की संख्या और भी घट जायगी; क्योंकि समझदार लोग तो अब जैनधर्म को वैदिक धर्म की नकल समझकर न अपनायेंगे, और इन कल्पित विधानोंने शूद्रों के लिये जैनधर्म में कोई आकर्षक या सुविधाजनक स्थान ही नहीं रक्खा है, इसलिए वे भी इस धर्म में न आयेंगे । इसलिए इन कल्पित विधानों ने हमें दोनों तरह से लूट लिया है । जब तक यह आपत्ति टलेगी नहीं तब तक ये कल्पित विधान लोगों के हृदय में जिनवाणी से

अधिक स्थान जमा लेंगे। निःसन्देह कभी न कभी इस कचरे को निकाल बाहर करनेवाले सुधारक पैदा होंगे, परन्तु न मालूम वे हजार वर्ष बाद होंगे या दो हजार वर्ष बाद होंगे। तब तक यह पाप और दृढ़ हो जायगा, तथा इसी पाप के समर्थन में पंडित लोग अपनी पंडिताई दिखलाने लगेंगे। इसलिये सुधारकों के मार्ग में भयंकर कठिनाइयाँ आवेंगी। उन कठिनाइयों का, तथा जब तक सुधारक न हों तब तक जैन समाज का जो कुछ नाश होता रहेगा उसका पाप हमारे ऊपर है। मैं मानता हूँ कि मैंने अपने ग्रन्थ में ही बीच बीच में उस पाप का भंडाफोड़ किया है तथा उस पाप को उससे कई गुणे धर्म के द्वारा ढक दिया है परन्तु जिस प्रकार कोयले के ऊपर कई गुणा स्फटिक रत्न देनेपर भी वह कोयला दिखाई देता ही रहता है उसी प्रकार वह पाप दिखाई दे रहा है। अथवा जिस प्रकार गृद्ध की नज़र मांस पिंडपर ही पड़ती है, उसी प्रकार भविष्य के पंडितों की नज़र भी उसी पापपर पड़ेगी और वे उसे ही मंडन करेंगे। यह सब मेरी भूल का, मूर्खता का या असावधानी का परिणाम होगा। इस कारण मेरा हृदय जल रहा है। अब मैं तुम लोगों के पास नहीं रह सकता। अब तो इस पाप का घोर प्रायश्चित करने का विचार है। मुझे अब जगत् को सुधारने का दम्भ छोड़कर आत्म-सुधारना का प्रयत्न करना चाहिये। मैं चाहता हूँ कि इस पत्र से तुम कुछ लाभ उठाओ।

—तुम्हारा हितैषी
जिनसेन।

भगवज्जिनसेनाचार्य का यह पत्र पढ़ कर सबके सब रोने

सके। उनकी कमजोरियाँ आपद्धर्म के नाम पर उन्हें इतना विवश कर रही थीं कि वे जिनसेनाचार्य के प्रश्न का आदर न कर सके यद्यपि वे जिनसेनाचार्य का बहुत आदर करते थे।

पवित्र पतितात्मा

(१)

'नहीं पिताजी, यह कभी नहीं हो सकता। संसार मुझे विष समान मालूम होता है। इस निःसार जीवन के लिये मैं सच्चा जीवन नहीं खो सकता।'

'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन साधु जीवन बड़ा कठिन है। कोई भी चीज वहीं तक अच्छी है जहाँ तक हम उसे पचा सकें। अगर पचा न सके तो अमृत भी विष हो जाता है।'

'कुछ भी हो। मैं नहीं मान सकता।'

'नन्दिषेण! तुम राजमहलों में रहे हो! भला, किस तरह जंगल में रहोगे?'

'पिताजी! शेर के बच्चे को जंगल में रहना सिखाना नहीं पड़ता। वह जंगल में ही सुखी रहता है। सोने का पिंजड़ा देखकर वह लुभा नहीं जाता।'

'नन्दिषेण! मेरा साहस नहीं होता कि तुम्हें दीक्षा लेने की आज्ञा दूँ। परन्तु तुम्हारा हठ जबर्दस्त है। जब तक तुम ठोकर न खाओगे तबतक तुम्हें किसी की शिक्षा न लगेगी। खैर, जाओ मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।'

नन्दिषेण महाराज श्रेणिक को प्रणाम करके चले गये और भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचे। वहाँ पर भी सबने रोका परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। आखिर उनने दीक्षा ले ही ली।

(२)

मानव हृदय एक तरह की गेंद है जो टक्कर खाकर और भी अधिक उछलता है। नन्दिषेण को ज्यों ज्यों रोका गया त्यों त्यों उनका हृदय और भी अधिक उछलता गया, और इसी जोश में उनने दीक्षा लेली। नन्दिषेण विपत्तियों से डरनेवाले नहीं थे। जंगलों में शेर की गर्जना उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालती थी। कड़ी से कड़ी धूप और कड़ी से कड़ी ठंड को वे बिना किसी संक्लेश के सह जाते थे। कई दिन के उपवास से उनका शरीर भले ही कृश हो जाता हो परन्तु उनकी आत्मा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। विपत्तियों को उनने चूर चूर कर दिया था। वे एक अजेयवीर साबित हो चुके थे। जिन लोगों ने उनको दीक्षा लेने से रोका था वे भी आश्चर्यचकित हो गये और अपने रोकने पर उन्हें पश्चात्ताप हो रहा था।

मनुष्य की प्रकृति विचित्र है। वह भौंरे के समान है। भौंरा काठ को काट डालता है परन्तु कमल के पत्र को नहीं काट पाता। मनुष्य भी बड़ी बड़ी आपत्तियों को चूर्ण कर डालता है परन्तु प्रलोभनों की मार पड़ने पर हार जाता है। नन्दिषेण ने विपत्तियों को जीत लिया था किन्तु प्रलोभनों का जीतना बाकी था। सब से बड़ी परीक्षा देने की ओर उनका ध्यान न था।

रूखा भोजन तथा अन्य तपस्याओं ने उनकी इन्द्रियों को बहुत कुछ शिथिल कर दिया था फिर भी जवानी के जोश को वे मार न सके। भीतर का शत्रु दब गया पर मरा नहीं। वह चुपचाप पड़ा पड़ा मौके की बाट देखता रहा।

(२)

नगर भर में कामकान्ता का नाम प्रसिद्ध था। उस नगर के वेश्या जगत् की वह रानी थी। अनेक युवकों को उसने अपनी आँखों के इशारे पर नचाया था। अनेकों को गन्ने की तरह चूस कर रास्ते का कूड़ा-कचरा बना दिया था। उसका बड़ा ठाटबाट था। लेकिन उसकी वास्तविक सम्पत्ति थी उसका यौवन; और उस से भी बड़ी सम्पत्ति थी उसका सौन्दर्य और सब से ज्यादा जहर था उसकी तिरछी चितवन में।

एक दिन नन्दिषेण मुनि उसी नगर में भिक्षा के लिये गये। उनने कामकान्ता को देखा। उसी समय काम ने उनके हृदय पर चोट की। हृदय डाँवाडोल हुआ। नन्दिषेण ने उस दिन भिक्षा न ली और लौट आये।

स्थान पर आकर उनने अपने चित्त को स्थिर करने की बहुत कोशिश की, बहुत आत्मचिन्तन किया, किन्तु सब व्यर्थ। काम ने उनको जकड़कर पकड़ लिया था और अब वे एक तरह से पिंजड़े में पड़े हुए शेर के समान हो रहे थे।

आज रात्रिभर नन्दिषेण को निद्रा न आई। वे आँखें मींचते थे लेकिन अँधेरा न होता था; सामने कामकान्ता नज़र आने

जाती थी। उनके हृदय में एक प्रकार का युद्ध हो रहा था। रागवृत्ति और विरागवृत्ति एक दूसरे को पराजित करना चाहती थी।

'नन्दिषेण! क्यों ज़रासे प्रलोभन में पड़कर अपनी अमूल्य सम्पत्ति को बरबाद कर रहे हो? अगर तुम्हें भोग ही भोगना था तो घर में क्या कमी थी? यह व्रत क्यों धारण किया था?'

'जो कुछ हो। अब यह व्रत नहीं पाल सकता। घर में भोगों से तृप्त हो गया था इसीलिये भोग छोड़ दिये थे। अब फिर भूख लगी है तो क्या भूखों मरता रहूँ?'

'तो क्या नन्दिषेण! भूख के लिये विष खा लोगे? जिसको तुम उच्छिष्ट समझकर छोड़ आये हो उसीका फिर सेवन करोगे?'

'उच्छिष्ट तो अनन्तकाल से खा रहा हूँ। भूख न लगे वह अच्छा, अथवा लगे तो उसे सहन कर सकूं तो भी अच्छा; लेकिन भूख के दुःख से बिलबिलाता रहूँ और उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट का विचार करता रहूँ, इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी? नहीं, अब यह वेदना मुझसे न सही जायगी।'

'अरे! तुम राजपुत्र होकर ऐसी बातें करते हो!'

'राजपुत्र हो या कोई हो; आखिर मनुष्य हूँ—मैं जड़ नहीं हूँ। जो मनुष्य सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं होता वह या तो ईश्वर है, या जड़। मुझ में कमज़ोरी है, मैं ईश्वर नहीं बन पाया हूँ इसलिये सौन्दर्य का प्रभाव मेरे ऊपर न पड़े—यह कैसे हो सकता है?'

इस तरह दोनों वृत्तियों का घोर युद्ध होता रहा। लेकिन नन्दिषेण का हृदय स्थानच्युत हो गया था, वह सम्हल न सका। दूसरे दिन नन्दिषेण भिक्षा के लिये ग्राम में गये और उसी वेश्या के मकान पर पहुँचे।

(४)

कामकान्ता ने देखा कि एक साधु उसी के घर की ओर आ रहे हैं। आजतक उसने सैकड़ों युवकों को देखा था और उन को अपना शिकार बनाया था। लेकिन आज उसे मालूम हुआ कि मैं स्वयं शिकार बन रही हूँ।

आजतक उसने तन बेचा था, लेकिन आज उसका मन छीना जा रहा था। नन्दिषेण को देखकर उसका मन काबू में न रहा। वेश्या पुरुष की दासी नहीं है किन्तु धन की दासी है। लेकिन आज वह अपने सिद्धान्त पर विजय प्राप्त न कर सकी।

नन्दिषेण धीरे धीरे वहाँ पहुँचे। उनने बहुत कोशिश की कि अभी कुछ नहीं बिगड़ा है इसलिये लौट चलूँ, परन्तु वे न लौट सके। फिर सोचा, अगर कामकान्ता मेरा तिरस्कार कर दे तो भी अच्छा है। लेकिन यह भी न हुआ। कामकान्ता ने विनय से कहा—"महाराज क्या आज्ञा है?"

नन्दिषेण चुप रहे। उनने सोचा—अब भी भाग सकता हूँ। उनने पीछे देखा भी, परन्तु भाग न सके।

कामकान्ता सब कुछ ताड़ गई। उसने पशुओं को नहीं, किन्तु मनुष्यों को चराया था। वह मनोविज्ञान की पंडिता थी। आज उसे अपनी विजय पर गर्व था। विजय के सच्चे गर्व से मनुष्य नम्र हो जाता है। इस नम्रता से वह अपने गर्व का जितना परिचय दे सकती है उतना अन्य तरह नहीं। इसीलिये उसने निरभिमान नम्रता से कहा—देव! दासी पर कृपा कीजिये! यह सारी सम्पत्ति आपकी है। मेरा यौवन, मेरा सौन्दर्य, मेरा शरीर

और मेरे प्राण भी आप के हैं।'

नन्दिषेण ने कहा— 'कामकान्ता! मैं निर्धन हूँ। क्या तुझ से यह भी नहीं हो सकता है कि मेरा अपमान कर दे! मुझे धुत-कार दे! तू वेश्या होकर भी एक निर्धन को क्यों चाहती है! तू अपने धर्म को क्यों भूलती है!'

कामकान्ता ने लज्जा से सिर झुकाकर कहा—'देव! स्त्री, चाहे वेश्या हो या पतिव्रता, वह एक ही पुरुष को चाहती है। वेश्याओं का हृदय भी कुलवती स्त्रियों के समान कोमल होता है; उस में भी प्रेम होता है और अगर धृष्टता माफ़ हो तो मैं यह भी कह सकती हूँ कि वह प्रेम इतना ही पवित्र होता है जितना कि कुलवती स्त्रियों का।'

नन्दिषेण ने ताज्जुब से कहा—'क्या वह प्रेम पवित्र होता है! तुम्हारी यह बात मेरी समझ में नहीं आती!'

कामकान्ता उत्तेजित होकर बोली—'हाँ, वह प्रेम पवित्र होता है। मैं सौ बार कहती हूँ कि वह प्रेम पवित्र होता है!'

'तब वे सैकड़ों पुरुषों के हाथ उस प्रेम को क्यों बेचती हैं! क्या पवित्र प्रेम इस तरह बेचा जा सकता है?'

'नाथ! कोई भी वेश्या प्रेम नहीं बेचती! फिर पवित्र प्रेम की तो बात ही क्या है! वह तन बेचती है, मन नहीं बेचती। प्रेम मन में रहता है—तन में नहीं रहता।'

'कामकान्ता! तेरी बातें मधुर और ज़ोरदार हैं, लेकिन ये मेरे हृदय पर बड़ी भारी चोट कर रही हैं। मेरा हृदय फिसलता हुआ था, तूने पैर पकड़कर नीचे को और खींच लिया। मेरा बुद्धि-

मुक व्यर्थ जा रहा है ; मैं जान-बूझकर विष पी रहा हूँ।'

'देव ! तब आप जाइये। एक वेश्या के पास विष पीने के लिये न आइये। मैं यह नहीं चाहती कि आपको मेरे लिये पतित होना पड़े। सच्चा प्रेम, प्रेमी का पतन नहीं चाहता, उत्थान चाहता है। जाइये नाथ ! जाइये ! मेरे हृदय को छीनकर वन का रास्ता लीजिये।'

नन्दिषेण चुप रहे। वे स्वयं निर्णय नहीं कर पाते थे कि 'रहूँ या जाऊँ'। नन्दिषेण को चुप देखकर कामकान्ता ने कहा—

'प्यारे ! अगर संसार में प्रेम कोई चीज है और पुरुषों में हृदय नाम का कोई पदार्थ होता है तो आपको वन में भी शान्ति न मिलेगी। मेरा प्रेम आपके हृदय को चैन नहीं लेने देगा। आप इधर से भी जायँगे और उधर से भी जायँगे। आप पहिले सोच लीजिये और फिर जिस में आपका कल्याण हो वही कीजिये। मैं अपने लिये आपको नहीं गिरा सकती।'

'कामकान्ता ! तेरी बातों से मैं पागल हो जाऊँगा। मुझे सोचने दे। परन्तु सोचूँ क्या ! मैं हृदय खो चुका हूँ और बुद्धि से भी हाथ धो चुका हूँ। मैं मानता हूं कि यदि मैं इधर से चला जाऊं तो मुझे वन में भी शान्ति नहीं मिलेगी। किन्तु मुझे चिन्ता यही है कि मैं अपने पवित्र जीवन को इस प्रकार नष्ट कैसे करूं ?'

'नाथ ! आप मेरे साथ रहकर भी परोपकार कर सकते हैं। धार्मिक जीवन भी बिता सकते हैं। सैकड़ों मनुष्यों को धर्म मार्ग पर लगा सकते हैं।'

'तेरे यहां कौन भला आदमी धर्म सुनने को आवेगा ?'

'दुनियां में जो भले आदमी कहे जाते हैं उन में से हजारों आदमी मेरे यहां धूल चाटते हैं। अगर मैं उनकी ओर देख दूं तो वे अपने को कृतकृत्य समझें। अगर आप मेरे यहां आनेवालों को पतित समझते हैं तो मैं सिद्ध कर दूंगी कि समाज में हजारों लोग गाय का मुंह लगाकर शिकार करते हैं। समाज एक शरीर है जो ऊपर साफ सुन्दर और भीतर से महागन्दा और दुर्गन्धित है।'

'अनुभव की मूर्ति! तेरी बातें सुनकर मैं चकित हो गया हूं। यदि सचमुच समाज की यह दशा है तो मैं उससे हाथ जोड़ता हूं। मैं उसका भला नहीं कर सकता।'

कामकान्ता को हंसते देखकर नन्दिषेण ने आश्चर्य से सिर हिलाकर पूछा—'हंसती क्यों हो?'

'क्या आप भले आदमियों को सुधारना चाहते हैं? परन्तु इसमें बहादुरी क्या है? बहादुरी तो इस बात में है कि आप बिगड़ों को बनावें। सुधरे तो सुधरे हुए ही हैं; उन्हें आपकी जरूरत नहीं है। आपकी जरूरत है उन शूद्रों को, जो समाज में ज्ञान के अधिकारी भी नहीं माने गये हैं, जिन्हें समाज ने पशुओं से भी बदतर समझा है। आपकी जरूरत है उन दीन महिलाओं को, जो अत्याचार की चक्की में पिस रही हैं, गुलामी करना ही जिनके लिये धर्म बतलाया जा रहा है। जो बिगड़ा है, जहाँ अनेक बुराइयां हैं—वहीं सुधारकों की जरूरत है, वहीं सुधार करना चाहिये। स्वर्ग लोक में तीर्थंकर नहीं होते, नर लोक में तीर्थंकर होते हैं

पवित्र पतितात्मा

(१)

'नहीं पिताजी, यह कभी नहीं हो सकता। संसार मुझे विष समान मालूम होता है। इस निःसार जीवन के लिये मैं सच्चा जीवन नहीं खो सकता।'

'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन साधु जीवन बड़ा कठिन है। कोई भी चीज वहीं तक अच्छी है जहाँ तक हम उसे सह सकें। अगर पच न सके तो अमृत भी विष हो जाता है।'

'कुछ भी हो। मैं नहीं मान सकता।'

'नन्दिषेण! तुम राजमहलों में रहे हो! भला, किस तरह जंगल में रहोगे?'

'पिताजी! शेर के बच्चे को जंगल में रहना सिखाना नहीं पड़ता। वह जंगल में ही सुखी रहता है। सोने का पिंजड़ा देखकर वह लुभा नहीं जाता।'

'नन्दिषेण! मेरा साहस नहीं होता कि तुम्हें दीक्षा लेने की आज्ञा दूँ। परन्तु तुम्हारा हठ जबर्दस्त है। जब तक तुम ठोकर न खाओगे तबतक तुम्हें किसी की शिक्षा न लगेगी। खैर, जाओ मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।'

नन्दिषेण महाराज श्रेणिक को प्रणाम करके चले गये और भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचे। वहाँ पर भी सबने रोका परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। आखिर उनने दीक्षा ले ही ली।

(२)

मानव हृदय एक तरह की गेंद है जो टक्कर खाकर और भी अधिक उछलता है। नन्दिषेण को ज्यों ज्यों रोका गया त्यों त्यों उनका हृदय और भी अधिक उछलता गया, और इसी जोश में उनने दीक्षा लेली। नन्दिषेण विपत्तियों से डरनेवाले नहीं थे। जंगलों में शेर की गर्जना उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालती थी। कड़ी से कड़ी धूप और कड़ी से कड़ी ठंड को वे बिना किसी संक्लेश के सह जाते थे। कई दिन के उपवास से उनका शरीर भले ही कृश हो जाता हो परन्तु उनकी आत्मा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। विपत्तियों को उनने चूर चूर कर दिया था। वे एक अजेयवीर साबित हो चुके थे। जिन लोगों ने उनको दीक्षा लेने से रोका था वे भी आश्चर्यचकित हो गये और अपने रोकने पर उन्हें पश्चात्ताप हो रहा था।

मनुष्य की प्रकृति विचित्र है। वह भौंरे के समान है। भौंरा काठ को काट डालता है परन्तु कमल के पत्र को नहीं काट पाता। मनुष्य भी बड़ी बड़ी आपत्तियों को चूर्ण कर डालता है परन्तु प्रलोभनों की मार पड़ने पर हार जाता है। नन्दिषेण ने विपत्तियों को जीत लिया था किन्तु प्रलोभनों का जीतना बाकी था। सब से बड़ी परीक्षा देने की ओर उनका ध्यान न था।

रूक्ष भोजन तथा अन्य तपस्याओं ने उनकी इन्द्रियों को बहुत कुछ शिथिल कर दिया था फिर भी जवानी के जोश को वे मार न सकीं। भीतर का शत्रु दब गया पर मरा नहीं। वह चुप-चाप पड़ा पड़ा मौके की बाट देखता रहा।

(२)

नगर भर में कामकान्ता का नाम प्रसिद्ध था। उस नगर के वेश्या जगत् की वह रानी थी। अनेक युवकों को उसने अपनी आँखों के इशारे पर नचाया था। अनेकों को गन्ने की तरह चूस कर रास्ते का कूड़ा-कचरा बना दिया था। उसका बड़ा ठाटबाट था। लेकिन उसकी वास्तविक सम्पति थी उसका यौवन; और उस से भी बड़ी सम्पति थी उसका सौन्दर्य और सब से ज्यादा जहर था उसकी तिरछी चितवन में।

एक दिन नन्दिषेण मुनि उसी नगर में भिक्षा के लिये गये। उनने कामकान्ता को देखा। उसी समय काम ने उनके हृदय पर चोट की। हृदय डाँवाडोल हुआ। नन्दिषेण ने उस दिन भिक्षा न ली और लौट आये।

स्थान पर आकर उनने अपने चित्त को स्थिर करने की बहुत कोशिश की, बहुत आत्मचिन्तन किया, किन्तु सब व्यर्थ। काम ने उनको जकड़कर पकड़ लिया था और अब वे एक तरह से पिंजड़े में पड़े हुए शेर के समान हो रहे थे।

आज रात्रिभर नन्दिषेण को निद्रा न आई। वे आँखें मींचते थे लेकिन अँधेरा न होता था; सामने कामकान्ता नजर आती

लगाती थी। उनके हृदय में एक प्रकार का युद्ध हो रहा था। रागवृत्ति और विरागवृत्ति एक दूसरे को पराजित करना चाहती थी।

'नन्दिषेण! क्यों ज़रासे प्रलोभन में पड़कर अपनी अमूल्य सम्पत्ति को बरबाद कर रहे हो? अगर तुम्हें भोग ही भोगना था तो घर में क्या कमी थी? यह व्रत क्यों धारण किया था?'

'जो कुछ हो। अब यह व्रत नहीं पाल सकता। घर में भोगों से तृप्त हो गया था इसीलिये भोग छोड़ दिये थे। अब फिर भूख लगी है तो क्या भूखों मरता रहूँ?'

'तो क्या नन्दिषेण! भूख के लिये विष खा लोगे? जिसको तुम उच्छिष्ट समझकर छोड़ आये हो उसीका फिर सेवन करोगे?'

'उच्छिष्ट तो अनन्तकाल से खा रहा हूँ। भूख न लगे वह अच्छा, अथवा लगे तो उसे सहन कर सकूं तो भी अच्छा; लेकिन भूख के दुःख से बिलबिलाता रहूँ और उच्छिष्ट-अनुच्छिष्ट का विचार करता रहूँ, इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी! नहीं, अब यह वेदना मुझसे न सही जायगी।'

'अरे! तुम राजपुत्र होकर ऐसी बातें करते हो!'

'राजपुत्र हो या कोई हो; आखिर मनुष्य हूँ—मैं जड़ नहीं हूँ। जो मनुष्य सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं होता वह या तो ईश्वर है, या जड़। मुझ में कमजोरी है, मैं ईश्वर नहीं बन पाया हूँ इसलिये सौन्दर्य का प्रभाव मेरे ऊपर न पड़े—यह कैसे हो सकता है?'

इस तरह दोनों वृत्तियों का घोर युद्ध होता रहा। लेकिन नन्दिषेण का हृदय स्थानच्युत हो गया था, वह सम्हल न सका। दूसरे दिन नन्दिषेण भिक्षा के लिये ग्राम में गये और उसी वेश्या के मकान पर पहुँचे।

(४)

कामकान्ता ने देखा कि एक साधु उसी के घर की ओर आ रहे हैं। आजतक उसने सैकड़ों युवकों को देखा था और उन को अपना शिकार बनाया था। लेकिन आज उसे मालूम हुआ कि मैं स्वयं शिकार बन रही हूँ।

आजतक उसने तन बेचा था, लेकिन आज उसका मन छीना जा रहा था। नन्दिषेण को देखकर उसका मन काबू में न रहा। वेश्या पुरुष की दासी नहीं है किन्तु धन की दासी है। लेकिन आज वह अपने सिद्धान्त पर विजय प्राप्त न कर सकी।

नन्दिषेण धीरे धीरे वहाँ पहुँचे। उनने बहुत कोशिश की कि अभी कुछ नहीं बिगड़ा, इसलिये लौट चलूँ, परन्तु वे न लौट सके। फिर सोचा, अगर कामकान्ता मेरा तिरस्कार कर दे तो भी अच्छा है। लेकिन यह भी न हुआ। कामकान्ता ने विनय से कहा—"महाराज क्या आज्ञा है?"

नन्दिषेण चुप रहे। उनने सोचा—अब भी भाग सकता हूँ। उनने पीछे देखा भी, परन्तु भाग न सके।

कामकान्ता सब कुछ ताड़ गई। उसने पशुओं को नहीं, किन्तु मनुष्यों को बनाया था। वह मनोविज्ञान की पंडिता थी। आज उसे अपनी विजय पर गर्व था। विजय के सच्चे गर्व से मनुष्य नम्र हो जाता है। इस नम्रता से वह अपने गर्व का जितना परिचय दे सकता है उतना अन्य तरह नहीं। इसीलिये उसने फिर अत्यन्त नम्रता से कहा—'देव! दासी पर कृपा कीजिये। यह सारी सम्पत्ति आपकी है। मेरा यौवन, मेरा सौन्दर्य, मेरा शरीर

और मेरे प्राण भी आप के हैं।'

नन्दिषेण ने कहा—'कामकान्ता ! मैं निर्धन हूँ। क्या तुझ से यह भी नहीं हो सकता है कि मेरा अपमान कर दे ! मुझे धुत्कार दे ! तू वेश्या होकर भी एक निर्धन को क्यों चाहती है ! तू अपने धर्म को क्यों भूलती है !'

कामकान्ता ने लज्जा से सिर झुकाकर कहा—'देव ! स्त्री, चाहे वेश्या हो या पतिव्रता, वह एक ही पुरुष को चाहती है। वेश्याओं का हृदय भी कुलवती स्त्रियों के समान कोमल होता है; उस में भी प्रेम होता है और अगर धृष्टता माफ़ हो तो मैं यह भी कह सकती हूँ कि वह प्रेम इतना ही पवित्र होता है जितना कि कुलवती स्त्रियों का।'

नन्दिषेण ने ताज्जुब से कहा—'क्या वह प्रेम पवित्र होता है ! तुम्हारी यह बात मेरी समझ में नहीं आती !'

कामकान्ता उत्तेजित होकर बोली—'हाँ, वह प्रेम पवित्र होता है। मैं सौ बार कहती हूँ कि वह प्रेम पवित्र होता है।'

'तब वे सैकड़ों पुरुषों के हाथ उस प्रेम को क्यों बेचती हैं ! क्या पवित्र प्रेम इस तरह बेचा जा सकता है !'

'नाथ ! कोई भी वेश्या प्रेम नहीं बेचती ! फिर पवित्र प्रेम की तो बात ही क्या है ! वह तन बेचती है, मन नहीं बेचती। प्रेम मन में रहता है—तन में नहीं रहता।'

'कामकान्ता ! तेरी बातें मधुर और जोरदार हैं, लेकिन ये मेरे हृदय पर बड़ी भारी चोट कर रही हैं। मेरा हृदय फिसलता हुआ था, तूने पैर पकड़कर नीचे की ओर खींच लिया। मेरा अभि-

... व्यर्थ जा रहा है । मैं जानबूझकर विष पी रहा हूँ ।'

'देव ! तब आप जाइये । एक वेश्या के पास विष पीने के लिये न आइये । मैं यह नहीं चाहती कि आपको मेरे लिये दुखित होना पड़े । सच्चा प्रेम, प्रेमी का पतन नहीं चाहता, कल्याण चाहता है । जाइये नाथ ! जाइये । मेरे हृदय को कीलकर वन का रास्ता लीजिये ।'

नन्दिषेण चुप रहे । वे स्वयं निर्णय नहीं कर पाते थे कि 'रहूँ या जाऊँ' । नन्दिषेण की चुप देखकर कामकान्ता ने कहा—

'प्यारे ! अगर संसार में प्रेम कोई चीज है और पुरुषों में हृदय नाम का कोई पदार्थ होता है तो आपको वन में भी शान्ति न मिलेगी । मेरा प्रेम आपके हृदय को चैन नहीं लेने देगा । आप इधर से भी जायेंगे और उधर से भी जायेंगे । आप पहिले सोच लीजिये और फिर जिस में आपका कल्याण हो वही कीजिये । मैं अपने लिये आपको नहीं गिरा सकती ।'

'कामकान्ता ! तेरी बातों से मैं पागल हो जाऊँगा । मुझे सोचने दे । परन्तु सोचूँ क्या ! मैं हृदय खो चुका हूँ और बुद्धि से भी हाथ धो चुका हूँ । मैं मानता हूं कि यदि मैं इधर से चला जाऊं तो मुझे वन में भी शान्ति नहीं मिलेगी । किन्तु मुझे चिन्ता यही है कि मैं अपने पवित्र जीवन को इस [illegible] नष्ट कैसे करूं ?'

'नाथ ! [illegible] कर सकते हैं । धार्मिक जीवन [illegible] को धर्म मार्ग पर लगा सकते हैं ।